नवउपनिवेशवाद और सांस्कृतिक संकट : समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में (1990-2010)

NEO-COLONIALISM AND CULTURAL CRISIS AS REFLECTED IN CONTEMPORARY HINDI FICTION (1990-2010)

Thesis

Submitted to the University of Calicut

for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY IN HINDI

शोध निर्देशिका :

डॉ. सुधा बालकृष्णन

आचार्या

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

शोधार्थी :

मेघा. ए. आर

शोध छात्रा

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

2015

Dr. Sudha Balakrishnan
Professor
Department of Hindi
University of Calicut

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of research work carried out by **Smt. MEGHA. A.R,** under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any University.

C.U. Campus
Date:

Dr. Sudha Balakrishnan
(Supervising Teacher)

DECLARATION

I, **MEGHA. A.R**, do hereby declare that this thesis entitled **"NEO-COLONIALISM AND CULTURAL CRISIS AS REFLECTED IN CONTEMPORARY HINDI FICTION (1990-2010)"** has not been submitted by me for the award of any Degree, Diploma, Title or Recognition before. This research work was supervised by **Dr. SUDHA BALAKRISHNAN**, Professor, Department of Hindi, University of Calicut.

C.U. Campus
Date:

MEGHA. A. R
Research Scholar
Department of Hindi
University of Calicut

विषयानुक्रमाणिका

		पृ. सं.
प्राक्कथन		**i-vi**
पहला अध्याय : नवउपनिवेशवाद समाज और संस्कृति		**1-26**
	भूमिका	
1.1	नवउपनिवेशवाद : विविध आयाम	
1.2	नवउपनिवेशवाद की नकारात्मक और सकारात्मक स्थितियाँ	
1.2.1	सकारात्मक पक्ष	
1.2.2	नकारात्मक पक्ष	
1.3	संस्कृति : परिचय एवं परिभाषा	
1.4	समाज और संस्कृति : संबन्ध	
1.5	संस्कृति और धर्म	
1.6	भारत की महान संस्कृति : एक परिचय	
1.7	नवऔपनिवेशिक दौर में परिवर्तित समाज और संस्कृति	
	निष्कर्ष	
दूसरा अध्याय : नवउपनिवेशवाद और समकालीन कथा साहित्य		**27-64**
2.1	समकालीन हिन्दी कथा साहित्य: एक सफरनामा	
2.1.1	समकालीन हिन्दी कहानी: एक परिदृश्य	
2.1.1.1	विद्रूप विसंगति तथा व्यवस्था विरोध का चित्रण	

2.1.1.2 नारी का प्रतिवादी स्वर

2.1.1.3 दलित विमर्श

2.1.1.4 अपराधीकरण का चित्रण

2.1.1.5 सांप्रदायिकता और आतंकवाद का चित्रण

2.1.1.6 ग्रामीण एवं आंचलिक जीवन का चित्रण

2.1.1.7 बाल कहानियाँ

2.1.1.8 आर्थिक विसंगतियों का चित्रण

2.1.1.9 शिथिल होते मानवीय संबन्ध

2.1.1.10 उत्तर औपनिवेशन के विकराल रूप का चित्रण

2.1.2 समकालीन हिन्दी उपन्यास: एक अनुशीलन

2.1.2.1 समकालीन उपन्यास और स्त्री विमर्श

2.1.2.2 ग्रामीण, प्रांतीय एवं आंचलिक जीवन का चित्रण

2.1.2.3 विभाजन की त्रासदी एवं सांप्रदायिकता का चित्रण

2.1.2.4 शिक्षा जगत की समस्याओं का चित्रण

2.1.2.5 समकालीन उपन्यासों में दलित जीवन की व्यथा कथा

2.1.2.6 बुजुर्ग पीढी की समस्याओं का चित्रण

2.1.2.7 आज़ाद भारत का चित्रण

2.1.2.8 पुराण-इतिहास पर आधारित उपन्यास

2.1.2.9 किसान आन्दोलन का चित्रण

2.1.2.10 उत्तर औपनिवेशन का जीता जागता चित्रण

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय : नवउपनिवेशवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट : समकालीन कहानियों में **65-145**

चौथा अध्याय : नवउपनिवेशवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक विद्रूपताएं: समकालीन उपन्यासों में **146-189**

पाँचवां अध्याय : नवउपनिवेशवाद के आतंक से उत्पन्न समस्याएँ: समकालीन कथा साहित्य में **190-200**

5.1 नवऔपनिवेशन से उत्पन्न आर्थिक संकट

5.2 देशी व्यावसायिक संस्थाओं का पतन

5.3 वृद्ध जीवन की उपेक्षा

5.4 शैक्षिक दुनिया पर प्रहार

5.5 धार्मिक क्षेत्र पर हमला

5.6 भाषागत समस्याएँ

5.7 विदेशों के प्रति बढता आकर्षण

5.8 सत्ता पर प्रभाव

5.9 पर्यावरण पर प्रभाव

5.10 मीडिया पर प्रभाव

निष्कर्ष

उपसंहार **201-210**

संदर्भ ग्रंथ सूची **211-221**

परिशिष्ट **222-223**

हम 'बादों' के युग में जी रहे हैं। जहाँ हर सुबह एक नए 'वाद' का जन्म होता है और शाम तक वह वाद पुराना पड जाता है। लेकिन नवऔपनिवेशवाद की सच्चाई चंद क्षणों की नहीं है। नवउपनिवेशवाद ने औपनिवेशन से शुरू होकर उत्तर औपनिवेशन तक का एक बहुत बडा दायरा पार करके वर्तमान के यथार्थ को ग्रहण किया है। 'विकास' और 'आधुनिकीकरण' के मोहक शब्दों के साथ इसने संपूर्ण दुनिया में अपना पाँव जमाया। परिणाम स्वरूप हमारे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक ढांचे में भारी परिवर्तन होना शुरू हो गए है।

आज-कल हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का विघटन हर क्षण हो रहा है। इसका मुख्य कारण नवऔपनिवेशन के तहत आयातित हो रही पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण है। अतः किसी भी समाज के लिए अपनी संस्कृति का पूर्ण रूप से परित्याग अथवा दूसरी संस्कृति को उसी रूप में स्वीकार करना ख़तरे की घंटी है। यही स्थिति आज भारत की है।

समकालीन कथा साहित्य वास्तव में तत्कालीत जटिल सामाजिक यथार्थ तथा युग संघर्षों से उपजी विसंगतियों का चित्रण बख़ूबी करने में सफल रहे हैं। अतः मानव जीवन पर नवउपनिवेशवाद का हस्तक्षेप भी समकालीन कथा साहित्य का एक प्रमुख विषय है। क्योंकि नवऔपनिवेशन के आकर्षण वलय ने हमारे उच्चतम मूल्य नष्ट किए, हमें हमारी महान सभ्यता एवं संस्कृति से काटकर अलग कर दिया गया, व्यक्ति को महानगरीय जीवन के प्रति आकर्षित

किया, कुंठा, अतृप्ति, अकेलापन तथा यौन विद्रूपताओं से मानव जीवन को ही संकट में डाल दिया। समकालीन कथाकारों ने इस उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों से जन्मे सांस्कृतिक संकट का जो जटिल, गहन एवं बहुआयामी यथार्थ की जो अभिव्यक्ति अपने कथा साहित्य में किया है, उसके अध्ययन करने का एक विनम्र प्रयास ही इस शोध कार्य के द्वारा हुआ है।

इस शोध प्रबन्ध में मैं ने समकालीन कहानिकारों में से कमल कुमार, जितेन्द्र भाटिया, राजकुमार गौतम, उदय प्रकाश, कैलाश बनवासी, चन्द्रकान्ता, राकेश मिश्र, पंखुरी सिन्हा, सूर्यबाला आदि कहानिकारों की अठतीस कहानियों को तथा समकालीन उपन्यासों में से सुरेन्द्र वर्मा का 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', चित्रा मुद्गल का 'एक ज़मीन अपनी', प्रियंवद का 'परछाईं नाच', ममता कालिया का 'दौड', तथा लता शर्मा का 'सही नाप के जूते' आदि उपन्यासों को लेकर अध्ययन किया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पांच अध्यायों में विभक्त किया है-

पहला अध्याय "नवउपनिवेशवाद : समाज और संस्कृति" है। इस अध्याय के अंतरगत औपनिवेशन से लेकर उत्तर औपनिवेशन तक के सफर को चंद शब्दों में व्यक्त करने की कोशिश की गई है। नवऔपनिवेशन के विभिन्न आयाम जैसे- भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावाद-बाज़ारीकरण, उदारीकरण आदि को स्पष्ट करते हुए समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर इसके आधिपत्य को भी उकेरा है।

इसमें नवउपनिवेशवाद के हानिकारक एवं लाभकारी- दोनों पक्षों पर एक दृष्टि डालने की कोशिश की गई है। साथ ही भारत की महानतम संस्कृति का परिचय देते हुए, समाज और संस्कृति के अभिन्न संबन्ध को दिखलाकर नवऔपनिवेशिक दौर में समाज और संस्कृति में हो रहे परिवर्तन का भी उल्लेख किया गया है।

दूसरा अध्याय है- "नवउपनिवेशवाद और समकालीन कथा साहित्य"। इसमें समकालीन हिन्दी कथा साहित्य के सफरनामे को दो भागों में बाँटा है- जैसे 'समकालीन हिन्दी कहानी : एक परिदृश्य' और 'समकालीन हिन्दी उपन्यास : एक अनुशीलन'। इसमें समकालीन हिन्दी कहानी एवं उपन्यास को विषय के आधार पर वर्गाकृत और स्पष्ट करने की कोशिश की गई है।

तीसरा अध्याय है- "नवउपनिवेशवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक संकटः समकालीन कहानियों में"। इसमें समकालीन कहानिकारों ने नवऔपनिवेशन से उत्पन्न सांस्कृतिक विभीषिकाओं का जो चित्रण अपनी कहानियों में की हैं, उन्हें आधार बनाते हुए इस अध्याय का अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में कुल अठतीस कहानियों का विश्लेषण समकालीन कहानीकारों की कुछ कहानी संग्रहों को आधार बनाते हुए किया है। जैसे- कमल कुमार की 'क्रमशः', राजकुमार गौतम की 'कब्र तथा अन्या कहानियाँ', उदय प्रकाश की 'पॉल गोमरा का स्कूटर', कैलाश बनवासी की 'बाज़ार में रामधन', चन्द्रकान्ता की 'अब्बू ने कहा था', राकेश मिश्र की 'बाकी धुआं रहने दिया', पंखुरी सिन्हा की

'किस्सा-ए-कोहेनूर', जितेन्द्र भाटिया की 'सिद्धार्थ का लौटना', सूर्यबाला की 'मानुषगंध' आदि। अतः इसके आधार पर नवऔपनिवेशन से उत्पन्न सांस्कृतिक विसंगतियों के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है।

चौथा अध्याय है- "नवउपनिवेशन से उत्पन्न सांस्कृतिक विद्रूपताएं: समकालीन उपन्यासों में"। इस अध्याय में नवउपनिवेशवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक त्रासदियों का अध्ययन सुरेन्द्र वर्मा का 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', चित्रा मुद्गल का 'एक ज़मीन अपनी', प्रियंवद का 'परछाईं नाच', ममता कालिया का 'दौड' तथा लता शर्मा का 'सही नाप के जूते' आदि उपन्यासों को आधार बनाते हुए किया गया है। इन उपन्यासों के माध्यम से उत्तर औपनिवेशन से उत्पन्न सांस्कृतिक विद्रूपताओं की एक-एक परत को उद्घाटित करने का प्रयास उपन्यासकारों द्वारा हुआ है।

पाँचवां अध्याय है "नवउपनिवेशवाद के आतंक से उत्पन्न समस्याएँ : समकालीन कथा साहित्य में" इस अध्याय में सांस्कृतिक संकट के अतिरिक्त नवउपनिवेशवाद के कारण उत्पन्न हो रही अन्य समस्याएँ जैसे- आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक, भाषागत क्षेत्रों पर इसका नकारात्मक प्रभाव, देशी व्यावसायिक संस्थाओं का पतन, वृद्ध जीवन की उपेक्षा, लोगों का विदेशों के प्रति बढता आकर्षण, सत्ता, पर्यावरण और मीडिया पर इसका दुष्प्रभाव- इन सबका अध्ययन समकालीन कथा साहित्य को आधार बनाकर करने का प्रयास किया है।

अंत में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है, जो संपूर्ण अध्ययन का निचोड है। इसके पश्चात् संदर्भ ग्रन्थ सूची में आधार ग्रन्थ एवं सहायक ग्रन्थों की सूची दी गई है और परिशिष्ट में प्रकाशित आलेख्रों की सूची है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रणयन कालिकट विश्विविद्यालय के पूर्व विभागध्यक्षा एवं आचार्या डॉ. सुधा बालकृष्णन के निर्देशन में संपन्न हुए हैं। उनके बहुमूल्य निर्देशों एवं मार्गदर्शन के ज़रिए ही यह शोध कार्य संपन्न हो सका है। जीवन में भी आगे बढने के लिए मुझे हमेशा उनसे प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त हुई है। अतः मैं हृदय की गहराइयों से उनके प्रति आभार व्यक्त करती हुँ।

उन तमाम लेख्रकों के प्रति मैं धन्यवाद अर्पित करती हुँ जिनकी रचनाएँ मैं ने अधार ग्रन्थों एवं सहायक ग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त कर अपना शोधकार्य संपन्न किया है।

डि. के. गुप्ताजी, जो पुस्तक विक्रेता है उनकी सहायता से ही मुझे समकालीन रचनाकारों की पुस्तकें हासिल हो सकी, उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

कालिकट विश्वविद्यालय के मेरे सभी गुरुजनों के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हुँ।

कालिकट विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पुस्तकालय कर्मचारियों एवं कार्यालय कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हुँ। साथ ही जे.एन.यु विश्वविद्यालय एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय कर्मचारियों के प्रति भी

धन्यवाद अर्पित करती हुँ, जिनकी सहायता मुझे वहाँ से सामग्री संकलन करने में मिली थी।

अमल कॉलज के प्रिंसिपल डॉ. एम. उसमान और वहाँ के सभी अध्यापक और अनध्यापक मित्रों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हुँ, जिनकी प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता मुझे समय-समय पर मिलती रही है।

इस शोध ग्रन्थ के प्रणयन के लिए हमेशा प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देकर मेरे अंदर ऊर्जा भरनेवाली मेरी माँ, बहन और पति के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हुँ।

अंत में उन सभी विद्वानों, व्यक्तियों, मित्रों तथा परिजनों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हुँ, जिनका किसी भी रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्नेह-सहयोग प्राप्त हुआ है।

विनीता

हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय
दिनांक :

मेघा. ए. आर

पहला अध्याय

नवउपनिवेशवाद समाज और संस्कृति

भूमिका

बदलाव अथवा परिवर्तन किसी भी समाज एवं संस्कृति की अनिवार्यता है। पृथ्वी में ऐसी एक भी चीज़ नहीं मिलेगी जिसमें बदलाव न हो। कभी-कभी यह बदलाव समाज की अनिवार्यता बन जाती है। तो कभी-कभी जबरदस्ती किसी पर थोपे जाते हैं और कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं कि हम अज्ञानवश अपने औकाद भूलकर अपने अस्तित्व को मिटाकर अपनी जीवन शैली में परिवर्तन लादने की कोशिश करते हैं। भारत में नवऔपनिवेशन का काम भी इससे भिन्न नहीं है। वह अपना पैर पसारकर भारतीयों के दिलो-दिमाग पर अपना कब्ज़ा जमाए बैठा है।

आज हम उत्तर आधुनिक युग में जी रहे हैं। यहाँ हमारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, आचार, विचार सब-कुछ आपस में उलझकर एक विकृत माहौल निर्मित हो गया है। आजकल विदेशों से केवल माल ही आयातित नहीं हो रहे हैं बल्कि उसके साथ वहाँ की सभ्यता, संस्कृति एवं सोच भी आयात हो रही है। अतः आज हमारी संस्कृति के मूल स्वरूप तक पहुँचना, उसके शुद्ध रूप को ढूँढ़ निकालना समय की मांग है।

कुछ विद्वान यह समझते हैं कि वर्तमान समाज में कोई भी 'वाद' ऐसा नहीं है जो ज़्यादा समय तक टिके रहते है। क्योंकि हमारे परिवर्तन प्रिय समाज में कोई भी चिरकाल तक टिकती नहीं, तो फिर एक 'वाद' कहाँ तक टिके रह सकता है। लेकिन यह तर्क नवउपनिवेशवाद पर लागू नहीं होता। क्योंकि यह बहुत अरसों से हमें बाह्य और आंतरिक रूप से खाई जानेवाली सच्चाई है। यह

सालों से हमारे समाज और संस्कृति को वश में कर रखा है। अतः इसे इस तरह 'हेय' दृष्टि से देखना आत्म प्रवंचना होगी। हमारी संस्कृति के लिए तो आज सबसे ज़्यादा खतरा इस उत्तर औपनिवेशन से है।

सबसे पहले हमें यह जान लेना ज़रूरी है कि नवऔपनिवेशन का स्थायित्व, क्षणिक नहीं है। यह बहुत अरसों से मौजूद एक सच्चाई है। नवऔपनिवेशन के पहले भारतीयों ने औपनिवेशन का एक लंबा सफर भी तय कर चुका है। लेकिन कभी-कभी हम भारतीय इस कटु सत्य को भूलकर नवऔपनिवेशन को आमंत्रण देते हैं और उसके लिए एक अनुकूल वातावरण निर्मित कर देते हैं।

एक समय ऐसा था जब पश्चिमी देशों का पूरी दुनिया में आधिपत्य स्थापित था। उस समय वे उपनिवेशों का शोषण करके बहुत अधिक समृद्ध बने हुए थे। बाद में उन्हें भारत जैसे अनेक उपनिवेशों को राजनीतिक स्वतंत्रता देना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में उन उपनिवेशों को आगे भी लूटना उनके लिए संभव नहीं था। ये पश्चिमी देश भली-भाँति जानते हैं कि उनकी समृद्धि का मुख्य स्रोत उपनिवेशित राष्ट्र है, तो अपनी समृद्धि को बरकरार रखने के लिए उन्हें दूसरा रास्ता अपनाना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप वे इन विकासशील देशों को सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से गुलाम बनाने की साजिशें रचने लगे। क्योंकि वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि भारत जैसे नवस्वतंत्र राष्ट्रों के स्वाभिमानी लोग अब राजनीतिक गुलामी बरदश्त नहीं करेंगे।

अपनी संपन्नता एवं वर्चस्व को कायम करने के लिए पूँजीपति देशों ने जो कुतंत्र रचा, उसकी कुंजी थी 'विकास' एवं 'आधुनिकीकरण' जैसे मनमोहक शब्द। क्योंकि ये ऐसे जादुई शब्द हैं जिसकी मायामोह में विकासशील देश बड़ी आसानी से फँस जाते है। पूँजीपति देशों का यह इरादा कामयाब हो गया। नवऔपनिवेशन का सफर यहीं से शुरु होता है।

विकसित और आधुनिक बनने की विकासशील देशों की ललक ने उन्हें पूँजीपति देशों की चपेट में कर दिया। लेकिन पूँजीपति देश जिस विकास का लोभ दिखा रहे थे वह केवल आर्थिक विकास है, सर्वांगीण विकास नहीं। यहाँ आर्थिक विकास को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार की उन्नति या समृद्धि उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। इसीलिए तो भारत जैसे सुसंस्कृत राष्ट्र अविकसित या फिर अल्प विकसित राष्ट्र माने जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत भी अपनी सांस्कृतिक समृद्धि को तुच्छ मानकर आर्थिक विकास ही जीवन का लक्ष्य मानने लगे। इसका फायदा पूँजीपति देशों को दो रूपों में मिलने लगा- एक तो विकासशील देश आधुनिक बनने के लिए पश्चिम की तकनीक और तकनीशियों को आयातित करने के लिए ललायित हो गए। दूसरा, सारे देश बड़े देशों के उत्पादों को खरीदने के लिए एक बड़ा बाज़ार बन जाते हैं। दूसरे देशों को अपने उत्पादों का बाज़ार बनाकर पूँजीपति देश भारी मुनाफा कमाने लगे। छोटे देशों के आधुनिक बनने की ललक के कारण उनका भारी आर्थिक शोषण होता है, जिसे वे नज़रअन्दाज़ करते हैं। जैसे तरसेम गुजराल ने नवउपनिवेशवाद के बारे में कहा है कि- "जब मैं नवउपनिवेशवाद पर सोचता हूँ तो मुझे चाम्स्की

की यह बात ज़रूर याद आती है कि मुक्त बाज़ार अमीरों के लिए साम्राज्यवाद है। जनता कीमत अदा करती है और अमीर फायदा उठाते है। गरीब-गुरबों के लिए बाज़ार और अमीरों के लिए ढेर सारा संरक्षण।" उनका यह वाक्य वर्तमान परिस्थिति में अक्षरशः सही साबित होता है।

1.1 नवउपनिवेशवाद : विविध आयाम

नवउपनिवेशवाद का आगमन अकेले नहीं हुआ था, बल्कि वह अपने साथ अनेक ऐसे तत्व भी लाए, जो लुभावने थे मनमोहक थे। ये हैं- बाज़ारीकरण, वैश्वीकरण, भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, उपभोक्तावाद आदि। ये सब अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि इन सभी का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। ये अन्योन्याश्रित भी हैं। ये अपने कार्यप्रणालियों के द्वारा मानव के मन-मस्तिष्क पर आधिपत्य जमाते हैं।

उदाहरण के लिए भूमण्डलीकरण तो विकासशील देशों के लिए आपत्तिजनक है। भूमण्डलीकरण अर्थात् भू का मण्डलीकरण। यानी पूरी दुनिया बाज़ार के रुप में परिणत हो रही है। लेकिन भूमण्डलीकरण शब्द से ऐसा आभास मिलता है कि पूँजीपति देश सारे देशों को एकता के सूत्र में बाँधकर अपनी मानवतावादी दृष्टि का परिचय देना चाहते हैं। अथवा भूमण्डलीकरण शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें 'सब जन हिताय सब जन सुखाय' की भावना अर्न्तलीन है या फिर इसकी व्यंजना 'वसुदैव कुटुंबकम्' की तरह व्यापक है। लेकिन वास्तविकता तो इन सबके ठीक विपरीत है। यह तो अमरीका जैसे

पूँजीपति देशों की स्वार्थ सिद्धि का मात्र एक उपकरण है। यह पूरी दुनिया को 'ग्लोबल विलेज' में समेटना चाहते है तो सिर्फ अपना मुनाफा लक्ष्य करके।

भूमण्डलीकरण में पूरी दुनिया एक गाँव के रूप में सिमट रही है- ऐसी बातें अक्सर सुनाई पड़ती हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि संसार का सिर्फ संपन्न वर्ग ही व्यावसायिक ज़रूरतों के लिए एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। परिणामस्वरूप संसार के एक बहुसंख्यक गरीब जनों की उपेक्षा हो रही है। अतः इस वैरुद्ध्य से समाज में आतंक और विद्रोह उपत्न्न हो जाते हैं। वास्तव में भूमण्डलीकरण एक तरह से अमरीकीकरण है। और अमरीका चाहता है कि सारी दुनिया को गोलबंद करके अपनी मुट्ठी में रखें और किसी को भी उनकी इस कूट नीति पर शक न हो।

उदारीकरण भी भूमण्डलीकरण की ही तरह एक भ्रामक शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय भावनाओं के उदारीकरण से नहीं है। इसका सीधा अर्थ यही है कि विकासशील देश अपनी आयात नीतियों को इतनी उदार बनाएँ ताकि बड़े देशों के वस्तुओं को सारे देशों में आयात करने के लिए कोई बाधा नहीं रहें। अतः अमरीका चाहता है कि वह अपनी निर्यात नीति को विकासशील देशों पर थोपकर इन देशों के गृह उद्योगों एवं छोटी-मोटी कंपनियों को नष्ट करें, जिससे उनका उद्योग इन देशों में भी आबाध रूप से चलता रहें।

उदारीकृत राष्ट्र में कोई नया उद्योग आरंभ नहीं कर सकते। यदि ऐसा होता है तो उदारीकरण के तहत वह तहस-नहस हो जाता है। क्योंकि जहाँ विदेश निर्मित वस्तुएँ यथेष्ठ मिल रही हों, वहाँ लोग 'मैड इन इंडिया' वाली चीज़ों को

खरीदना पसंद नहीं करते। लोगों की यही मानसिकता ही उदारीकरण को आमंत्रण देते हैं।

उपभोक्तावाद भी इसी के साथ जुड़ा हुआ एक शब्द है, जो अपने कार्य व्यापार के द्वारा नवउपनिवेशन के मार्ग को और सुगम बनाते हैं। वर्तमान वैश्वीकृत समाज में मनुष्य को 'मनुष्य' के रूप में नहीं बल्कि 'उपभोक्ता' के रूप में देखा जाता है। मानव के अन्तर्मन पर बाज़ार कब्ज़ा जमाए बैठा है। इसका मकसद सिर्फ माल एवं सेवाएँ भेजना मात्र नहीं है, बल्कि एक ऐसी भिन्न दुनिया के लिए जनता के मन में इच्छा जगाना भी है, जिसका निर्माण सामाजिक बदलाव और समता के लिए संघर्ष कर रहे लोगों के द्वारा नहीं बनाया जाएगा, बल्कि टेकनॉलजी के नए-नए आविष्कारों और नए-नए व्यापारिक कंपनियों द्वारा निर्मित होगा।

उपभोक्तावादी समाज कुछ सोच नहीं सकता, खुद कुछ कर भी नहीं सकता। उसकी अपनी दृष्टि एवं मस्तिष्क नहीं है। उपभोक्तावादी समाज के व्यक्ति के बारे में शंभूनाथ लिखते हैं कि- "उपभोक्तवादी समाज का आदर्श वह व्यक्ति नहीं है, जो सरल और ईमानदार है। वह है जो खूब झूठ, कृत्रिमता और ढोंग जी सके। कुछ भी भेज सके, कुछ भी खरीद सके कभी तर्क में न जाएँ।"[1]

बाज़ारीकरण अथवा मुक्त बाज़ार की अवधारणा भी इससे भिन्न नहीं है। मुक्त बाज़ार का एकमात्र अर्थ यह है कि सबसे सशक्त व्यापारिक प्रतिष्ठानों के

---

[1] डॉ. अब्दुल जलील (सं) - 'समकालीन हिन्दी उपन्यासः समय और संवेदना', पृ.299

लिए सारे क्षेत्रों को खोल देना जो अब तक उनकी पहुँच के बाहर रहे हैं। वैसे इस उन्मुक्त बाज़ार व्यवस्था में भी सारे संसार के कल्याण की क्ल्पना नहीं है, बल्कि इसमें विशालकाय औद्योगिक प्रतिष्ठानों का अपने हित को दुनिया के हित के रूप में देखने का आग्रह है।

1.2 नवउपनिवेशवाद की नकारात्मक और सकारात्मक स्थितियाँ

एक सिक्के की दो पहलुओं की तरह किसी भी विषय का अच्छे-बुरे पक्ष का होना स्वाभाविक है। इसलिए केवल अच्छे पक्ष को देखकर बुरे पक्ष से आँखें चुराना अथवा मात्र बुरे पक्ष को देखकर अच्छे पक्ष को नज़रअंदाज़ करना एकतरफा सोच होगा। यह विषय के प्रति अन्याय होगा। अतः नवऔपनिवेशन के भी अच्छे-बुरे पहलुओं पर एक दृष्टि डालना अनिवार्य है।

1.2.1 सकारात्मक पक्ष

- दुनिया के सभी राष्ट्र एक दूसरे के करीब आ गए।
- रोज़गार के अवसर विश्वव्यापी बन गए।
- उद्योगों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हो गई, अतः स्तरीय वस्तुओं का निर्माण होने लगे।
- हर कंपनियाँ बहत्तर वस्तुओं का निर्माण करने लगी।
- बहुस्तरीय कंपनियों के श्रेष्ठ तकनीक के कारण कम मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध होने लगी।

1.2.2 नकारात्मक पक्ष

नवउपनिवेशन की सकारात्मक पक्ष से ज़्यादा नकारात्मक पक्ष प्रबल है। जैसे-

- मुक्त बाज़ार एवं उदारीकरण के तहत यहाँ के लघु तथा कुटीर उद्योग लगभग बंद हो गए।
- वस्तुएं देश में न निर्मित होकर, विदेशों से आयातित होने के कारण बेरोज़गारी बढ़ गई।
- अब टिकाऊ की जगह 'use and throw away' अथवा 'भोगो और त्याग दो' वाला सिद्धांत बल पकडने लगा।
- केवल भौतिक सुख सुविधाओं को लूटना जीवन का लक्ष्य बन गया।
- बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कम मूल्य पर बहत्तरवाले सिद्धांत के कारण स्वदेशी उद्योग संकट में पड़ गए।
- व्यापार क्षेत्र की अनियंत्रित स्पर्धा में सबसे बड़ा एक-दो व्यावसायिक संस्था ही खड़ी रह पाया। बाकी सभी संस्था नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

1.3 संस्कृति परिचय एवं परिभाषा

संस्कृति का अर्थ क्षेत्र इतनी व्यापक और लचीली है कि संस्कृति को किसी परिभाषा के दायरे में बाँधना नामुमकिन है। जब भी हम संस्कृति की परिभाषा या व्याख्या करने को उद्यत होते है, तो हमेशा ही सीमित लगते हैं। कभी हम संस्कृति की व्याख्या आंतरिक तत्व के रूप में करते हैं तो कभी उसकी

व्याख्या बाह्य जीवन के क्रियाकलापों तक सीमित करते हैं। तो कभी हम संस्कृति को मनुष्य के समस्त जीवन का नियामक मानते हैं। इन सबके बावजूद भी संस्कृति को पूरी तरह व्याख्यायित करने में हम असमर्थ हो जाते हैं।

संस्कृति के संबन्ध में विद्वानों ने अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। इस विषय में कोई एकमत प्रस्तुत करना मुमकिन नहीं है। क्योंकि हर एक व्यक्ति अलग-अलग तरीके से संस्कृति को समझते और व्याख्यायित करते हैं। वास्तव में 'संस्कृति' का शाब्दिक अर्थ 'शुद्ध करना' अथवा 'परिष्कृत करना' है। संस्कृति का मुख्य उद्देश्य शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का विकास करना है। इस विकास की क्षमता जिस संस्कृति में सबसे अधिक होती है, वही सबसे ऊँची मानी जाती है। दिनकर जी द्वारा लिखित 'संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना में नेहरू जी ने संस्कृति संबन्धी अपने विचार व्यक्त किया है- "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई है, उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है।"[1] दिनकर जी संस्कृति को जीवन का तरीका बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में- "संस्कृति ऐसी चीज़ नहीं है, जिसकी रचना दस-बीस या सौ-पचास वर्षों में की जा सकती है। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राजकाज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति उत्पन्न होती

[1] दिनकर - 'संस्कृति के चार अध्याय', (प्रस्तावना - नेहरू)

है। ...असल में संस्कृति ज़िन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।"[1]

संस्कृति किसी देश की संपूर्ण मानसिक, वैकारिक स्थिति को प्रतिबिंबित करती है। मानव समाज के समस्त कल्याणकारी आदर्शों की समष्टि है संस्कृति। और समाज की हित साधना ही संस्कृति का लक्ष्य है। यह किसी समुदाय के देशकाल नियंत्रित जीने का तरीका है। विजयकुमार राय बताते हैं कि- "संस्कृति न तो अर्जनीय है, न उपलब्ध। वह कुम्भकार की कुम्भिका की तरह निर्मित नहीं होती। वह तो गुठली की भाँति भूमि से अंकुरती है।"[2] संस्कृति मानव के संपूर्ण व्यवहार का ढाँचा है। हर एक मनुष्य की संस्कृति उस समाज की संस्कृति है जहाँ उसका जन्म एवं पालन होता है। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी संस्कृति को मानव की विभिन्न साधनाओं की परिणति में निहित तत्व के रूप में स्वीकारते है। उनके शब्दों में- "आर्थिक परंपरा, राजनीतिक संघटन, नैतिक परंपरा और सौंदर्य बोध को तीव्रतर करने की योजना, सभ्यता के चार स्तंभ है। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है।"[3] द्विवेदी जी 'भारतीय संस्कृति की देन' नामक अपने निबन्ध में बताते हैं कि- "नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य

---

1 डॉ. जी.भास्कर मैया (सं)- लेख-संस्कृति है क्या- दिनकर, 'जीवन और शिक्षण' पृ.21

2 सत्यप्रकाश मित्तल (सं)- लेख- विजयकुमार राय, 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.87

3 हज़ारीप्रसाद द्विवेदी- 'अशोक के फूल' (निबंध संग्रह), पृ.81

उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमश प्राप्त करता जा रहा था, जिसे हम संस्कृति शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।"[1] मनुष्य हमेशा अपने को तथा अपनी संस्कृति को परिष्कृत करना चाहता है। यह आंतरिक परिष्कार है। द्विवेदी जी का दृढ़ विश्वास था कि आंतरिक परिष्कार के अभाव में कोई भी समाज, कोई भी देश सुसंस्कृत नहीं बन सकता।

मानव के व्यक्तित्व और उसके संपूर्ण जीवन को समृद्ध बनानेवाला तत्व है संस्कृति। और यह निरंतर मानव की शक्तियों और वृत्तियों का परिष्कार करता रहता है। 'संस्कृति की सामाजिक' नामक किताब में नन्दकिशोर आचार्य बताते हैं कि-"संस्कृति भी सारतः मूल्यान्वेषण एवं मूल्यबोध की ऐसी बृहत्तर प्रक्रिया है जिसमें समस्त प्रकार की मानवीय क्रियाशीलताएँ समाहित हो जाती है।"[2]

संस्कृति के संबन्ध में के.एम. मुंशी बताते हैं कि-"हमारे रहन-सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था जो मानसिक प्रकृति है, जिसका उद्देश्य हमारे अपने जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ती करना, वही हमारी संस्कृति है।"[3] कह सकते हैं कि संस्कृति मानव जीवन का सार है। मानव अपने जीवन को ज़्यादा से ज़्यादा सुन्दर, श्रेष्ठ और बहत्तर बनाने के लिए जो भी प्रयास करते है वो सब संस्कृति का हिस्सा बन जाते हैं।

---

1 ए. अरविन्दाक्षन- 'साहित्य संस्कृति और भारतीयता', पृ.47

2 नन्दकिशोर आचार्य- 'संस्कृति की सामाजिकी', पृ.9

3 निशि त्यागी - 'निबन्ध माला', पृ.127

मानव जीवन को 'उत्तम' के साथ संबन्ध स्थापित करने में संस्कृति ही मदद करती है। संस्कृति अथवा 'कल्चर' का अर्थ परिष्कृत करना है। मनुष्य जब उपयुक्त चीज़ों से भूमि का परिष्कार करता है तब उसे भूमि से अपना वांछित फल मिल जाता है। इस तरह का परिष्कार केवल भूमि का ही नहीं होता, चित्त अथवा मन का भी हो सकता है। इसलिए तो आचार्य नरेन्द्रदेव जी संस्कृति को 'चित्तभूमि की खेती' कहते हैं। उनका कहना है-"संस्कृति शब्द की व्याख्या कठिन है। यदि हम शाब्दिक अर्थ लें तो कह सकते हैं कि संस्कृति चित्तभूमि की खेती है। चूँकि कर्म में मन या चित्त की प्रधानता हैं; अतः; यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्त सुशासित है उसकी वाणी और शरीर चेष्टा भी सुसंस्कृत होगी। जिस प्रकार की हमारी दृष्टि होगी उसी प्रकार का हमारा क्रियाकलाप होगा।"[1]

ई.एम.एस. नंबूदरीपाद ने अपने किताब 'कला साहित्य और संस्कृति' में संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डाला है। उनका कहना है कि- "जन संस्कृति निस्संदेह मेहनतकश जनता की संस्कृति है। दूसरी ओर इसके मुकाबले पर है शोषक वर्गों की संस्कृति। लेकिन संस्कृति के कुछ रूप ऐसे है जो 'वर्गों से ऊपर' लग सकते हैं। वे सभी कला रूप जिन्हें हम आम तौर पर 'लोक

---

[1] सत्यप्रकाश मित्त्ल (सं) - लेख्र-रमेशचन्द्र तिवारी, 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.37

संस्कृति' का नाम देते है, शायद इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं।"[1] मैथ्यू आरनोल्ड की संस्कृति विषयक धारणा है कि- "किसी समाज एवं राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति है, जिनसे समाज एवं राष्ट्र परिचित होता है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि संस्कृति ऊपर से लादने या आरोपित करनेवाली वस्तु नहीं है। यह जन्म से ही व्यक्ति को समाज से विरासत के रूप में प्राप्त होता है। जिसमें वह पलता-बढ़ता है और निरंतर अपने स्वत्व को तराशते रहते हैं। संस्कृति समाज का उद्धार एवं परिष्कार करनेवाली बेजोड़ शक्ति है। संस्कृति एक व्यक्ति के भीतर श्रेष्ठतम गुणों को अंकुरित करते हैं। और इस तरह के सुसंस्कृत व्यक्तियों के द्वारा एक श्रेष्ठ एवं स्वस्थ समाज का एवं समाज के द्वारा एक समुन्नत देश का निर्माण होता है।

1.4 समाज और संस्कृति-संबन्ध

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज के अभाव में मानव के विकास और जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध करने का एक साधन है। समाज और संस्कृति का गहन अटूट संबन्ध है। समाज के बिना संस्कृति की कल्पना भी असंभव है। समाज ही संस्कृति को जन्म देती है। और आगे लाकर संस्कृति समाज को दिशा निर्देश देती है। अतः समाज और संस्कृति को पृथक करके देखना असंभव है। क्योंकि जब

---

[1] ई.एम.एस.नंबूदरीपाद- 'कला साहित्य और संस्कृति', पृ.103

[2] निशि त्यागी- 'निबन्ध माला', पृ.127

समाज है तभी संस्कृति है। संस्कृति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित है। संस्कृति के अनुसार ही समाज की जीवन शैली का निर्माण होता है। यदि समाज का आदर्श उन्नत होगा तो संस्कृति की ध्वजा भी ऊँची फहराएगी। यदि समाज गिर जाता है तो संस्कृति भी लुप्त हो जाएगी। और उसका नामोनिशान भी नहीं बचेगा। काल के हाथों उस संस्कृति का समूल ही नष्ट हो जाएगा। संस्कृति और समाज एक दूसरे के साथ इतने जुड़े हुए हैं कि संस्कृति को समाज की अन्तरात्मा कहा जा सकता है। संस्कृति का निर्माण युगों की प्रक्रिया के बाद होता है। मानव जो भी आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक उन्नति करता है, उसका संबन्ध हमारी संस्कृति से जुड़ जाता है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कारों की योजना को संस्कृति के नाम से अभिहित किया जा सकता है। संस्कृति का सिलसिला पीढ़ियों से पीढियों तक जारी रहता है। एक व्यक्ति जिस समाज में जन्म लेता है उस समाज की संस्कृति व्यक्ति की संस्कृति बन जाती है। एक समाज के उच्चतम मूल्य वहाँ की संस्कृति की परख्र से ज्ञात होता है। उस संस्कृति में उस समाज की सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों आदि का भी समावेश होता है।

हर एक समाज की अपनी अलग संस्कृति होती है। एक समाज में संस्कृति की अहम भूमिका होती है। संस्कार वास्तव में मानव को जीने का ढंग सिख्लाता है। वही एक ऐसे तत्व है जो समाज को उच्छृंख्ल होने से बचाता है। संस्कृति के अभाव में समाज और व्यक्ति बिगड जाएगा। फिर पशु-मानव में कोई अंतर नहीं रह जाएगा।

संस्कृति जीवन का प्रकाश और उसकी कोमलता है। संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसे ही अन्य क्षमताओं और आदतों का अद्‌भुत समावेश रहता है। जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

मनुष्य के सभी मानवीय क्रियाकलापों और अवधारणाओं के पीछे उसकी संस्कृति होती है। इस संबन्ध में डॉ.ज्ञानप्रकाश बताते हैं कि-"संस्कृति मानव जीवन की भूत, वर्तमान और भविष्य की वह निधि है, जिससे उसके और उसके पूर्वजों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक एवं कला सौंदर्यबोध अर्थात् समस्त जीवन मूल्य प्रतिध्वनित होते हैं।"[1] इस तरह संस्कृति का संबन्ध मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक एवं कलागत जीवन के विविध पहलुओं से है। ध्यान देते योग्य बात यह है कि एक समाज में संस्कृति का निर्माण कुछ दिनों में अथवा महीनों के भीतर नहीं हो सकता। बल्कि वह तो सहस्त्रों वर्षों की विकासयात्रा का परिणाम होता है। इसलिए तो वह इस समाज की पहचान बन जाती है।

समाज मानव के लिए है और संस्कृति भी मानव के लिए है। दोनों के समन्वय में ही पूर्णता है। और दोनों मिलकर ही व्यक्ति के परिपूर्ण निर्माण कर सकेंगे। दोनों के समन्वय से एक ऐसा राष्ट्र बन जाएगा जो आत्मस्वार्थ से ऊपर उठकर 'सब जन सुखाय सब जन हिताय' का संदेश हर कहीं फैलाएगा।

---

[1] डॉ. अंजू दुबे - 'भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक मूल्यांकन', पृ.6

1.5 संस्कृति और धर्म

संस्कृति का संबन्ध धर्म से है या नहीं यह प्रश्न काफी महत्वपूर्ण है। भारत में तो हिन्दु संस्कृति को लोग भारतीय संस्कृति मानते हैं। वास्तव में भारतीय संस्कृति की जड़ें मूलरूप से हिन्दु संस्कृति की है। क्योंकि यही लोग भारत में प्राचीनकाल से रहते आए हैं। लेकिन समय-समय पर भारत में अनेक धर्म-जाति के लोग बाहर से आए और यहाँ के समाज में घुल-मिल गए। अतः दोनों के बीच अपने विचारों, आचारों एवं संस्कृति का आदान-प्रदान हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति बहुत सारी संस्कृतियों का समन्वित रूप है लेकिन उसकी नींव हिन्दु संस्कृति ही है। इस बात की पुष्टि में हर्षनारायण जी बताते हैं कि-"भारतीय संस्कृति को आजकल सामाजिक संस्कृति समिम्मश्रित संस्कृति कहने का रिवाज सा हो गया है। इसमें सारा जोर 'हिन्दु-मुस्लिम गंगा-यमुना' संस्कृति पर है। मैंने एक पुस्तिका में इसकी विस्तृत समीक्षा की है। मैं मानता हूँ कि अभिमानी राष्ट्रीय संस्कृति की मुल धारा बृहत्तर हिन्दुत्व है, शेष 'अनुशयी' संस्कृतियाँ हैं। बौद्ध, जैन और सिख्र संस्कृतियाँ उपसंस्कृतियाँ मात्र है।"[1]

चूँकि भारतीय संस्कृति की नींव हिन्दु संस्कृति है, इस कारण दूसरे धर्मावलंबियों को भारतीय संस्कृति अपनाने में कोई कठिनाई नहीं होती। इसकी वजह यह है कि हिन्दू संस्कृति बहुत ही उदार संस्कृति है और उसमें प्रथाओं के

---

[1] सत्यप्रकाश मित्तल (सं) - लेख्र-हर्षनारायण, 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.69

पालन करने की कोई कट्टरता नहीं है। लुई रोने इस संबन्ध में बताते हैं कि- "हिन्दुत्व जीवन का एक ढंग है, चिन्तन की एक शैली है, जो अनायास स्वभाव बन जाती है। इसमें प्रथाओं का उतना महत्व नहीं है और उनकी अनदेखी की जा सकती है। यह संघबद्ध धर्म भी नहीं है, क्योंकि इसमें पुरोहितवाद और कम से कम अधिक्रमित पुरोहिततंत्र नहीं है।"[1]

मगर सिर्फ धर्म के बलबूते पर ही संस्कृत का निर्माण होता है ऐसी धारणा गलत है। प्राचीनकाल में तो संस्कृति के गठन में धर्म का हाथ कुछ ज़्यादा रहा है। लेकिन आज धर्म के साथ साथ बहुत सारे विचार, राष्ट्रीयता आदि भी संस्कृति को प्रभावित करनेवाले तत्व बन गए हैं। डॉ. प्रेमलता शर्मा धर्म और संस्कृति को दो भिन्न भिन्न रूपों में देखते हुए बताती है कि- "मनुष्य के जीवन को यदि बड़े खंडों में बांट दिया जाए जिनमें से एक का संबन्ध श्रद्धा, विश्वास के पुंज से हो और दूसरे का उसकी तथाकथित भौतिक प्रवृत्तियों से हो, तब तो पहले का नाम धर्म हो सकता है और दूसरे का संस्कृति।"[2] ऐसा कहने के बावजूद भी डॉ. शर्मा मानती है कि धर्म और संस्कृति को एकदम अलग करके देखना मुश्किल है।

---

[1] सत्यप्रकाश मित्तल (सं) - लेख-हर्षनारायण, 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.29

[2] सत्यप्रकाश मित्तल (सं) - लेख- डॉ. प्रेमलता शर्मा, 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.77

आज इस विषय को लेकर चिंता करना कि किसी एक संस्कृति भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा में है बाकी सभी उपधाराएँ है अनावश्यक है। क्योंकि आज जो हमारी संस्कृति का रूप है वह बहुत सारे संस्कृतियों के समन्वय से पायी एक बहुमूल्य विरासत है। "नेग्रिटो, आग्नेय, आर्य, द्रविड, ईरानी, यवन, शक, कुशान, पल्लव, डूण, अरब, तुर्क, मुगल, अंग्रेज़ और अन्य पाश्चात्यों ने इस सांस्कृतिक यज्ञ में समय समय पर अपनी आहुति दी।"[1] इस बारे में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी का कहना है कि-"भारतीय संस्कृति एक ऐसा कंधा है जिसका एक टाँका भूटान में भरा गया है तो दूसरा केरल में और तीसरा कश्मीर में। इस रूपक में प्रत्येक टाँके का अपना अपना अस्तित्व है। कोई किसी में विलीन नहीं होता।"[2] द्विवेदी जी का कहना है कि भारतीय संस्कृति विभिन्न रंगों के फूलोंवाले उद्यान के समान है। क्योंकि भारत की विशाल संस्कृति में बहुत सारी छोटी-बड़ी संस्कृतियों का योग है। अतः उन सभी को स्वीकारना और महत्व देना आज का युगधर्म है।

1.6 भारत की महान संस्कृति : एक परिचय

किसी भी देश और समाज की बुनियाद उसकी संस्कृति और सभ्यता होती है। उसमें उस समुदाय की सोच, रचना-कर्म, धर्म-चेतना, कला-चेतना, साहित्य-चेतना, रहन-सहन का ढंग सबकुछ समाहित है। भारत की एक महान सांस्कृतिक

---

1 प्रसन्न कुमारी, 'भाषा साहित्य और संस्कृति चिन्तन के कण', पृ.111

2 सत्यप्रकाश मित्तल (सं) - लेख- डॉ. प्रेमलता शर्मा, 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.77

परंपरा है। वह हमेशा सत् की ओर, प्रकाश की ओर, अमरता की ओर चलनेवाली है। इसलिए तो उपनिषद् में कहा गया है-

"असतो मा सद्गमया
तमसो मा ज्योतिरगमया
मृत्योमा अमृतंगमया"

अर्थात् मुझे असत् से सत्की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, तथा मृत्यु से अमरता क ओर ले चलो।

भारतीय संस्कृति हमें शांति, अहिंसा, कोमलता, उदारता, असंचय, दया और क्षमा का पाठ पढ़ाती है, वहीं संकट के समय वज्र के समान कठोर होकर परिस्थिति का सामना करने की भी प्रेरणा देती है। भारतीय संस्कृति एक दिव्य विभूति का चिन्तन मात्र न होकर कर्म प्रधान और आचरण प्रधान है। इसमें अपने स्थूल देह का चिन्तन ही नहीं है बल्कि आचरण का भी आग्रह है जो जनसाधारण के गुणों को पढ़ाकर उसे देवत्व की ओर अग्रसर कराने में सक्षम है। यह आत्मस्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर 'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' के सत्विवेक को जागृत करती है।

भारतीय संस्कृति भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता पर बल देनेवाली है। वह हमें महान आदर्श सिखाती है। यहाँ की धर्म, शिक्षा, रीति रिवाज़, साहित्य, कला सभी में हमारी महान सभ्यता की झांकी देख्र सकते हैं।

भारत की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम् संस्कृति है। हमारे सांस्कृतिक जीवन का मूलाधार आज भी वही है, जो प्राचीन भारत में थे। इसीलिए ही यह कहा गया है कि भारत का अतीत वर्तमान में जीवित है।

भारतीय संस्कार की एक ख़ासियत यह है कि भारतीयों के मन में जो धर्म और मोक्ष की भावना है, उसी भावना ने अर्थ और काम के प्रति भारतीयों के अति लिप्सा को हमेशा काबू में रखा। हमारी संस्कृति में उदारता और साहिष्णुता की भावना है। भारत में बहुत सारे धर्म और संप्रदाय के लोग रहते हैं। फिर भी यहाँ 'भारतीय धर्म' नामक कोई धर्म नहीं है। भारत में जितनी भी जातियाँ समय-समय पर आयी, लगभग उन सभी जातियों के संस्कृतियों के अच्छे पक्षों को हमने ग्रहण किया है। इस तरह समन्वयात्मकता का जो सर्वोत्तम उदाहरण 'भारतीय संस्कृति' सामने रखती हैं वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है।

भारतीय संस्कृति ने मानव जीवन के सर्वागीण विकास का जीवन लक्ष्य माना। लेकिन आज समाज में इसका रूप धुंधला होता जा रहा है। क्योंकि आज मानव का लक्ष्य जीवन का सर्वांगीण विकास से हटकर मात्र आर्थिक विकास की ओर जा रहा है। आध्यात्मिकता की प्रधानता भी भारतीय संस्कृति की एक ख़ासियत है। भारतीय, नारी के प्रति भी श्रद्धा रखनेवाले हैं। उसे दया, माया, करुणा, त्याग, बलिदान की मूर्ति कहकर शक्ति-स्वरूपा मानकर पूजते हैं। इसीलिए तो यहाँ पिता से भी उच्च स्थान माता को दिया जाता है। भारतीय संस्कृति ने नैतिक मूल्यों को हमेशा महत्व दिया। उसे आर्थिक एवं राजनीतिक मूल्यों से हमेशा श्रेण्ठ माना।

भारतीय कर्मफल तथा स्वर्ग-नरक में आस्था रखनेवाले हैं। लोगों का जीवन आदर्श-प्रधान बनाए रखने में ऐसे विश्वासों का बड़ा ही योगदान है। भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता विश्व बंधुत्व की भावना है। सभी के सुख, मंगल तथा कल्याण की चिंता जितनी भारतीय संस्कृति में मिलती है, उतनी अन्यत्र नहीं। इसमें मानवतावादी दृष्टि भी विद्यमान है। यह मानव के तन और मन दोनों की शुचिता पर बल देते हैं। साथ ही प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों की पूजा एवं उपासना करते हैं।

भारतीय संस्कृति की एक ख़ासियत है ग्रहणशीलता की असाधारण क्षमता। जो भी अच्छे तत्व, जहाँ से भी प्राप्त होते हैं, हम उसे बिना हिचक के अपनाते हैं। भारतीय संस्कृति का प्रभाव आज विदेशों में भी, जैसे श्रीलंका, चीन, सुमात्रा, इंडोनेशिय आदि देशों में भी फैल चुके हैं।

प्राचीन काल से आज तक भारतीय संस्कृति एक विशालकाय वटवृक्ष के समान सिर उठाकर खड़ी है। भारतीय संस्कृति के गठन में यहाँ की परिस्थितियों का भी योगदान रहा है। भारतीय प्रकृति को देवी के रूप में मानते हैं और पूजते हैं। इस प्रकृति ने ही यहाँ के निवासियों को उदारता, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि पाठ पढ़ाई है। राजनीतिक क्षेत्र में तो राजा हमेशा ही संस्कृति के संरक्षक थे। इतना ही नहीं भारत में समय-समय पर अनेक महापुरुष अवतरित हुए हैं जैसे गौतम बुद्ध, गुरु नानक गाँधीजी आदि। अतः भारतीय संस्कृति की विकासयात्रा में इन सभी महापुरुषों के योगदान नगण्य नहीं है। इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति के निर्माण में हर एक चर-अचर वस्तुओं का योगदान है। जैसे

यहाँ की प्रकृति, वन संपदा, नदी, समुद्र, पर्वत, ऋतु, दिन-रात, पशु-पक्षी आदि।

भारतीय संस्कृति आत्म संस्कार, व्यक्ति संस्कार और वैयक्तिक साधना पर अधिक ज़ोर देती है। यह हमेशा ही हिंसा से अहिंसा की ओर, स्व से पर की ओर और करुणा से महारुणा की ओर जानेवाली है। 'भारतीय संस्कृति का स्वरूप' नामक लेख में मोती सिंह जी बताती है कि-'हम जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं, कुछ अर्थ में उसमें चिंतन की जो गहराई है, सत्य की जो पुकार है और उसकी अनुभूति की जो व्यंजना है, वह अन्य भूभागों में संभवतः नहीं प्राप्त होती।"[1]

भारतीय संस्कृति हर तरह की स्वार्थ परायणता से ऊपर है। पश्चिमी संस्कृति ज़्यादातर मानव केन्द्रित है। अतः मानवेतर सृष्टि के प्रति उनके मन में कम से कम एक दयाभाव तो विद्यमान है, लेकिन भारतीय संस्कृति इन सबसे ऊपर उठकर संपूर्ण सृष्टि के प्रति एकत्व अथवा समत्व की भावना रखती है। पश्चिमी सभ्यता के केन्द्र में मानव है, बाकी जो भी है, वो सब मानव के उपभोग के लिए हो जाता है। भारतीय कर्मफल का सिद्धांत भारतीयों को केवल मनुष्य के प्रति ही नहीं संपूर्ण चर-अचर के प्रति भी उत्तरदायी बनाता है। अतः सृष्टि के प्रत्येक वस्तु के साथ मनुष्य का रिश्ता एक मर्यादा से अनुशासित है, और मनुष्येतर जीवों के प्रति भी मर्यादा के उल्लंघन को हम पाप मानते हैं।

---

[1] सत्यप्रकाश मित्तल (सं) – 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.146

निष्कर्षतः कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति बहुत से महनीय गुणों का अगार है और उसमें कोई विगुणता नहीं है। कोई भी संस्कृति इतनी पूर्ण एवं सर्वगुण संपन्न नहीं हो सकती, जितनी भारतीय संस्कृति। अतः भारतीय संस्कृति पूरे विश्व को निस्वार्थता, परोपकार एवं कर्तव्यपालन का पाठ पढ़ाती है।

1.7 नवऔपनिवेशिक दौर में परिवर्तित समाज और संस्कृति

यह एक प्रचलित मान्यता है कि परिवर्तनों के सामने परंपरा को बदलना चाहिए, अन्यथा वह टूट जाएगी। किसी भी समाज के लिए परिवर्तन अनिवार्य है। मानव जाति के उद्‌गम से लेकर आज मानवराशि जहाँ आकर पहुँची है, उसका विकास इन परिवर्तनों का ही संचित फल है। विश्व में सभी ओर क्रांतिकारी परिवर्तन समय-समय पर होते आए हैं। क्योंकि मानव राशि हमेशा ही नए सामंजस्य की तलाश करते हैं। ऐसे संदर्भ में कोई भी समाज, कोई भी संस्कृति केवल अतीत के बदौलत आगे नहीं बढ़ सकता। "इतिहास बताता है कि वही देश पतनोन्मुख है, जो युगधर्म की उपेक्षा करते हैं और परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होते हैं।"[1]

भारतीय इतिहास बताता है कि जितनी भी संस्कृतियाँ समय-समय पर भारत में आई, भारत ने उसे सही मायनों पर, सही परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया है। लेकिन नवऔपनिवेशिक समाज की समस्या यह रही कि पश्चिमी सभ्यता को भारतीय संदर्भ में संतुलित करके स्वीकारने की बजाय एक सांस्कृतिक अतिक्रमण

---

[1] सत्यप्रकाश मित्तल (सं) – 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', पृ.11

अथवा एक सांस्कृतिक बाढ़ ने हज़ारों वर्षों से फूले पनपे हमारी सभ्यता को जड़ से हिलाने की कोशिश की। उत्तर औपनिवेशन के हर कदम पर यह सुनने को मिलता है कि पश्चिमी संस्कृति को अपनाकर हम विकसित हो रहे हैं। लेकिन असलियत यह है कि यहाँ 'विकास' सिर्फ मल्टीनाशनल कंपनियों का हो रहा है और बहुसंख्यक जनों की उपेक्षा हो रही है। इन बहुसंख्यक जनों के लिए 'विकास' शब्द निरर्थक ही नहीं, ख़तरनाक भी है। अगर यही विकास है तो विकास की अवधारणा पर ही पुनर्पाठ आवश्यक रहेगा। लेकिन आज लोग दिशा भ्रमित है। सही और गलत की पहचान और विभाजन की क्षमता ही वे खो दिए हैं। इसलिए लोगों की समझ में यह नहीं आता कि यहाँ विकास किसका हो रहा है और किस तरह का हो रहा है। असल में विकास सिर्फ एक अल्पसंख्यक जनों का हो रहा है और वे इस बाज़ारीकृत एवं उपभोक्तावादी संस्कृति में ऐशो आराम की ज़िन्दगी जी रहे हैं। बाकी के बहुसंख्यक लोग ऐसी ज़िन्दगी की आशा तो रखते हैं, लेकिन उसकी अप्राप्ति से निराशाग्रस्त हो जाते हैं। क्योंकि इस संस्कृति के केन्द्र में वही लोग टिक सकते हैं जिसके पास 'मणी' और 'पवर' है।

इस नवऔपनिवेशन से संस्कृति एवं सामाजिक संबन्धों में बदलाव आए हैं। इसने मानवीय संबंधों को ही विधटित कर लिया है। इससे हर कहीं भोग-विलास एवं अव्याशी के माहौल निर्मित हो रहे हैं। हम अपनी स्वाभाविक जीवन शैली से दूर होकर फॉर्मुलेबन्द होकर जीने लगे हैं। हमने अपनी पूरी ज़िन्दगी को यंत्रवत् बना दिया है। यहाँ हर एक व्यक्ति तरक्की, सुख-सुविधा एवं भोग

विलास की अंधी दौड़ में है। आज व्यक्ति ज़िन्दगी को एक होड़ की तरह देखता है। इस होड़ में अपने आपको आगे पहुँचाने की व्यस्तता में संबन्धों की आपसी आत्मीयता कट जाती है। आज संस्कृति और सभ्यता के अर्थ ही बदल गए हैं। जिन जिन बातों के बलबूते भारतीय अपने आपको सभ्य और अभिजात मानते थे आज वो कसौटी ही निराधार और अर्थहीन बन गए हैं। अतः स्थिति यह है कि न तो हम पूरी तरह भारतीय बन रहे हैं न ही पाश्चात्य। आज हम एक विचित्र धरातल पर खडे हैं जहाँ हमारी स्थिति एक डँवाडोल नाँव में खड़े व्यक्ति की तरह है जो कभी भी डूब सकता है।

1.8 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि नवऔपनिवेशिक दौर में जो संकट उपजा है, वह केवल आर्थिक या राजनीतिक संकट ही नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानव जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है। इसका प्रभाव वैयक्तिक जीवन पर भी गहरा होता जा रहा है। अब यहाँ गाँधीजी का 'रामराज' नहीं चलता बल्कि अर्थ की ताकत का राज चलता है। समाज के एक वर्ग के लिए विकास के खुले अवसर प्राप्त है तो दूसरा वर्ग इन सबसे वंचित होता जा रहा है। नवऔपनिवेशन के पीछे छिपी काली सच्चाई को सब लोग देख तो रहे हैं लेकिन पहचानने में असमर्थ हो रहे हैं। इसकी वजह से मूल्यहीनता एवं अपसंस्कृति पनप रही है। यह मनुष्य की शिराओं में भारतीय मूल्य के स्वस्थ रक्त को कीटानुओं की तरह दूषित कर रहा है। यहाँ का व्यक्ति भारतीय मूल्य मर्यादा को स्थापित और विकसित करने के दायित्व को स्वीकार करने के बजाय

एक मूल्यहीन अपसंस्कृति के वाहक के रूप में पनप रहा है। इस संकट से बचने के लिए हमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पर आधारित भारतीय संस्कृति की मूल स्वरूप तक लौटना आवश्यक है। खुद को भारतीय कहने पर लजानेवाली अवस्था से भारतीयों को ऊपर उठना होगा। भारतीयों को अब अपने अमूल्य जीवन को आयातित चश्मे के मध्यम से नहीं खुद के विवेक से आंकने का प्रयास करना होगा।

दूसरा अध्याय

नवउपनिवेशवाद और समकालीन कथा साहित्य

समकालीनता का अर्थ किसी कालखण्ड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण करना, निरूपण करना या बयान करना मात्र नहीं हैं, बल्कि उसे समूचे अर्थ में समझना, उसके मूल स्रोत तक पहुँचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना भी है। समकालीनता एक ठहरी हुई, गनिहीन और जड़ स्थिति नहीं है, बल्कि ठहराव, गतिहीनता और जडता को बहुत ही सख्ती और निर्ममता से तोडनेवाली एक गतिमान ऐतिहासिक प्रक्रिया और चेतना भी है।

समय के साथ जिसका सार्थक सरोकार होता है, उसे 'समकालीन' की संज्ञा देकर अभिहित किया जा सकता है। समकालीन मनुष्य बाहर से जितना स्वतंत्र, जितना सुलझा हुआ, जितना समर्थ, जितना सक्षम दिखाई देता है, उतना ही अन्दर से अस्वतंत्र, भीतर ही भीतर उलझा हुआ, असमर्थ और अक्षम है। बहुत सारे तरह-तरह के बंधनों से वह जकडा हुआ है। लेकिन वर्तमान समाज को अन्दर ही अन्दर खोखला कर रहे ये बंधन प्रत्यक्ष न होने के कारण हम इनसे अनजान रहते हैं। अतः समकालीन रचनाकारों का दायित्व है कि समाज को इन परोक्ष, नकारात्मक शक्तियों के प्रति अवगत कराएं और उनमें संगत-असंगत को पहचानने की क्षमता उत्पन्न करें।

कथा साहित्य के अन्तर्गत कहानी एवं उपन्यास दोनों विधाएँ आती हैं। कहानी एवं उपन्यास का अन्तर केवल आकार अथवा स्वरूप का विस्तृत अथवा सीमित होना मात्र नहीं है। उपन्यास में मानव जीवन के बहुविधीय पक्षों का चित्रण उसकी संपूर्णता के साथ होता है। बल्कि कहानी में जीवन के किसी एक

घटना का, या फिर किसी एक ही पक्ष का ही चित्रण होता है। उपन्यास में पात्रों का बाहुल्य रहता है, जबकि कहानी में बहुत कम ही पात्र मिलते हैं। उपन्यास में लेखक को पात्रों के चरित्र के निर्माण एवं विकास में थी पर्याप्त समय मिलता है, लेकिन कहानी में लेखक को उतना समय नहीं मिलता, इसलिए कम से कम समय में कहानिकार को चरित्र चित्रण स्पष्ट करना पडता है। उपन्यास में एक मुख्य कथा होती है और उसके साथ साथ कई आवान्तर कथाएँ भी जुडे रहती है। लेकिन कहानी में केवल मुख्य कथा ही रहती है, आवान्तर कथा के चित्रण के लिए कहानी में अवकाश नहीं मिलता। "उपन्यास यदि भाव तरंगों का समूह है तो कहानी भाव तरंगों के उस समूह की मात्र एक तरंग है। उपन्यास यदि स्वतंत्र क्षेत्र में व्यापक कलात्मक अभिव्यक्ति है तो कहानी सीमित क्षेत्र में संकुचित कलात्मक अभिव्यक्ति है।"[1] इस तरह उपन्यास और कहानी अपने अपने क्षेत्र में अपने अपने मायनों पर समान महत्व रखनेवाली दो विधाएँ है।

2.1 समकालीन हिन्दी कथा साहित्य: एक सफरनामा

समकालीन हिन्दी कथा साहित्य को समकालीन परिस्थितियों की उपज कहा जा सकता है। समकालीन कथा साहित्य में स्थितियों, घटनाओं या संबन्धों का मात्र चित्रण ही नहीं हुआ है, बल्कि इससे आगे बढकर यथार्थ के जटिल एवं गहरे स्तरों में बेठकर, किसी आग्रह से मुक्त होकर, आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व चेतना से संबन्ध स्थितियों का व्यापक बोध भी कराया गया है। समकालीन

---

[1] डॉ. संजय सिंह- 'हिन्दी कहानियाँ', पृ.31

समाज में विसंगतियों, असंगितयों और अन्तर्विरोधों का संकट निरंतर गहराते जा रहे हैं। इसलिए समकालीन कथा साहित्य में जो भयावह यथार्थ व्यक्त हुए हैं, वह अधिकतर अस्तित्व संकट की पहचान करानेवाला और उसकी छानबीन करनेवाला है। हिन्दी साहित्य में हमेशा ही दमन, शोषण, गैर बराबरी और अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाली रचनाओं की सृजन हुई हैं। समकालीन साहित्य में इसके साथ साथ नवउपनिवेशवाद, भूमण्डलीकरण, बाज़ारीकरण, उदारीकरण, अमानवीय पूँजीवाद आदि के कारण नष्ट हो रही मानवीय संवेदनाओं को कथा का केन्द्र बनाया गया है। इसके साथ साथ स्त्री, दलित, अंचल, इतिहास, पुराण आदि सब कुछ समकालीन कथा साहित्य का विषय बना है।

2.1.1 समकालीन हिन्दी कहानी: एक परिदृश्य

समकालीन कहानी की विशेषता यह है कि वह वर्तमान समय की यथार्थ से सीधा टकराते हैं। साहित्य समीक्षकों ने 1975 के बाद की कहानियों को समकालीन कहानी के नाम से अभिहित किया है। समकालीन कहानी को पिछले युग की कहानियों से एकदम काटकर देखना समीचीन नहीं होगा। क्योंकि यह एक ओर पिछले युग की कहानियों के विकास का अगला चरण है, तो दूसरी ओर कुछ अंशों में उससे भिन्नता भी रखती है। इसके अन्दर साठोत्तरी कहानी, समान्तर कहानी, सक्रिय कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी आदि समा जाते हैं। वास्तव में "समकालीन कहानी का न कोई पैटर्न है, न फ्रेम और न फार्मुला। यह एक जटिल, संक्रमित और संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें विसंगतियाँ

है, और उन्हीं में से उभरती हुई संघर्ष चेतना के निर्णायक बिंदु भी है। यह यथार्थ अपने मूल रूप और अर्थ में सामाजिक संकट और अस्तित्व संकट से जूझनेवाला यथार्थ है।"[1]

समकालीन कहानीकारों में नए उभरकर आनेवाले कहानीकार भी है, जिन्होंने चंद कहानीयों के द्वारा ही हिन्दी कहानी साहित्य के क्षेत्र में अपनी एक पहचान बनाने में सक्षम हुए हैं तो दूसरी तरफ ऐसे रचनाकार हैं, जो एक सफल कहानीकार के रूप में पहले ही प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इस समय के कुछ प्रमुख्र कहानीकार है- पंकज बिष्ट, स्वयं प्रकाश, अशोक अग्रवाल, उदय प्रकाश, असगर वजाहत, चित्रा मुद्गल, सुमति अय्यर, कैलाश बनवासी, राजकुमार गौतम, चन्द्रकान्ता, पंखुरी सिन्हा, राकेश मिश्र, अलका सरावगी, मनोज रूपडा, संजय, सुरभि पाण्डे, अशोक शुक्ल आदि।

समकालीन कहानी का वर्ण्य विषय बहु आयामी है। बाज़ारवाद, उत्तर उपनिवेशवाद, भूमण्डलीकरण, नारी, दलित आदि विषयों की प्रबलता समकालीन कहानीयों पर होने पर भी अन्य विषयों पर केंन्द्रित कहानियाँ भी कम नहीं है। समकालीन कहानियों की कुछ सामान्य विशेषताएं निम्न प्रकार है-

2.1.1.1 विद्रूप, विसंगति, तथा व्यवस्था विरोध का चित्रण

समकालीन कहानी लेख्र केवल दुख्रों एवं विकृतियों के तीख्रे बयान तक सीमित नहीं है, बल्कि तमाम विसंगतियों एवं विडंबनाओं के मूल जडों तक

---

[1] डॉ. नरेन्द्र मोहन- 'समकालीन कहानी की पहचान', पृ.47

पहुँचने की कोशिश भी समकालीन कहानीकार करते हैं। रमाकांत श्रीवास्तव की 'बेटे को क्या बतलाओगे' सांप्रदायिकता, अमानवीकरण, बाज़ारवाद आदि से उत्पन्न चुनौतियों को दर्शाते हैं। रमाकांत श्रीवास्तव ने अपनी अधिकांश कहानियों में मध्यवर्ग के दिखावे और खोखलेपन पर व्यंग्य किया है तथा दूसरी ओर शोषण और उत्पीडन के प्रति आवाज़ उठाने के लिए आह्वान भी किया है। महेंन्द्र सिंह महलान की कहानी 'ठोकर' हमारी व्यवस्था की पोल को खोल कर पाठकों के सम्मुख रख देती है। उनकी दूसरी कहानी 'इन्टरव्यू', जो आज की व्यवस्था पर तो प्रहार करती ही है और साथ ही साथ यह भी कहती है कि आज मात्र अध्ययन के बदौलत कुछ हासिल नहीं कर सकता। इनकी अधिकांश कहानियाँ सामाजिक विसंगतियों, विद्रूपताओं एवं हमारे उस परिवेश को अभिव्यक्त करनेवाली है, जिसमें ईमानदार और महनती आदमी हमेश पिसता ही रहता है। अवधेश प्रीत की 'ग्रासरूढ' 'तालीम' 'मायामहल का बक्सा' आदि कहानियाँ भी सामाजिक, राजनीतिक खोखलेपन को उजागर करनेवाली हैं।

2.1.1.2 स्त्री का प्रतिवादी स्वर

स्त्री को केवल उपभोग की वस्तु अथवा मात्र देह समझनेवाले समाज के प्रति एक प्रतिवादी स्पर समकालीन स्त्री विमर्श में देखा जा सकता है।

स्त्री को केवल एक पशु या वस्तु मानने का निषेध चन्द्रकान्ता कृत 'साउथ एक्स की सीता' में देख सकते हैं। नौकरीपेशा नारी की समस्याओं को चित्र मुद्गल की 'दरमियान' कहानी उजागर करती है। नैतिक मायनों, रूढियों एवं

परंपराओं को आधुनिकता के संदर्भ में परखने का प्रयास है सुधा ओरोडा की- 'एक सेण्टीमेण्टल डायरी की मौत', 'बगैर तराशे हुए' और 'पति परमेश्वर' जैसी कहानियाँ। लता शर्मा की 'मर्दाना कमज़ोरी, नामक कहानी को उत्तर आधुनिक पुरुष विमर्श की कथा कह सकती हैं, जिसके तमाम संदर्भ स्त्री के साथ जुडी हुई है। नीलिमा सिन्हा की कहानी संग्रह 'कुल्हाडी' की ज्यादातर कहानियाँ दाम्पत्य जीवन की रिक्तता बोध और 'कंडीशंड' कर दी गयी स्त्री की वेदना को अभिव्यक्ति करती है। जया जादवानी की 'कुछ न कुछ टूट जाता है' कहानी आज की स्त्री के लिए शादी एक शब्द से बढकर कुछ भी नहीं है, फिर भी उसकी ज़रूरत आज भी बनी हुई है, इस पर विडंबनापूर्ण व्यंग्य करती है। गीतांजली श्री की कहानियों की स्त्रियाँ अपने लिए निर्धारित तमाम प्रतिमानों, मूल्यों, वर्जनाओं के खिलाफ प्रत्यक्ष विद्रोह ही नहीं करती बल्कि इन वर्जनाओं को लांघने का एक स्वाभाविक प्रवृत्ति थी दर्शाती है। अलका सरावगी की कहानी 'कन्फेशन' में विवाह जैसी संस्था में स्त्री-पुरुष के अधिकारों में बराबराके ढोल पीटने के बावजूद भी सारे अधिकार पुरुष को जाने तथा उस वर्चस्व के तर्क पर मनमानी करने के अधिकार को विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत करती हैं। उनकी दूसरी कहानी 'वाइल्ड फलॉबर हॉल' पति-पत्नी अथवा स्त्री-पुरुष संबन्धों के बनावटीपन और कृत्रिम सच को उजागर करती है, जहाँ पर स्त्री हमेशा छली जाती है। उनकी एक अन्य कहानी 'पार्टनर' मैत्री और प्रेम के परिणतियों की अभिव्यक्ति करती है। अलकाजी की एक प्रमुख विशेषता स्त्री-लेखन के प्रचलित मुहावरों से बचने की कोशिश भी हैं। क्षमा शर्मा की कहानी

‘दादी माँ का बटुआ’ मादा भ्रूण से मुक्ति चाहनेवाली हमारी पूरी सामाजिक व्यवस्था पर चोट पहुँचाती है। उनकी दूसरी कहानी ‘चार अक्षर क्या जान लिए’ मध्यवर्गीय परिवार की व्यथा कथा कहती है। क्षमा शर्मा की अन्य कहानी है ‘वेलेंटाइन-डे’ यह एक ऐसी स्त्री की कहानी है, जिन्हें नकुल जैसा पुरुष स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वहाँ स्त्री सचेतन है और अपने अधिकारों को तलाशने की कोशिश करती है। समकालीन स्त्री लेखिका ऊर्मिला शिरीष की कहानियों में दर्ज हुए स्त्री चरित्र गांव एवं शहर दोनों की है। उनकी ‘चीख’ कहानी एक ऐसी लडकी की है, जो बलात्कार का शिकार होती है और समाज एवं परिवार की यंत्रणा झेलती है।

समकालीन लेखिका लवलीन के कथा-लेखन में अभिव्यक्त स्त्री-स्वर में आधुनिकता भरपूर मौजूद है। उनकी कहानियों के स्त्री पात्र किसी पीडा या दमघोंटू माहौल में नहीं जीती, और न ही किसी शोषण का शिकार बनती है। उनकी ‘स्वप्न ही रास्ता है’, ‘विल डू-केन डू’ आदि कहानियों में अभिव्यक्त स्त्री चरित्र अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और आर्थिक स्वावलंबन में विश्वास रखती है। दुर्वा सहाय की ‘माँ’ कहानी में पारंपरिक भारतीय नारी की छवि का चित्रण हुआ है। ‘जिरह’ कहानी स्त्री की उस मर्मांतक और भयावह पीडा को दर्शाती हैं, जिसके बारे में हम रोज़ अखबारों में पढते-सुनते हैं। उषा राजे सक्सेना अप्रवासी भारतीय लेखिका है। उनकी कहानियाँ पूरी तरह से यूरो कल्चर्ड हैं। वहाँ की ‘लैविश लाइफ स्टाइल’ इन कहानियों में पूरी तरह से हावी हो चुकी है। साथ

साथ हरा भरा दिखनेवाले उन जिंदगियों में मौजूद भीतरी खोखलेपन को भी लेखिका पाठकों के सम्मुख बेनकाब करती है। उनकी 'शन्नौ' कहानी एक ऐसी स्त्री की कहानी है, जो जीवन भर अपने स्त्री होने की सार्थकता तलाशती रहती है। पति के साथ लंदन जाकर वह वहाँ के समाज में फिट नहीं हो पाती। अतः पति और बच्चों द्वारा उसकी उपेक्षा होती है। रोहिणी अग्रवाल की कहानियों में स्त्री समस्या और स्त्री होने की टीस को लेकर गहन विश्लेषण और उसको समझने की जो अन्तर्दृष्टि दिखाई पडती है, वह उन्हें समकालीन कथा-लेखिकाओं में एक अलग पहचान देती है।

2.1.1.3 दलित विमर्श

दलित साहित्य हमेशा ही विवादों के घेरे में रहा है। दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही दलित साहित्य कहे जाएँगे या फिर गौर दलितों द्वारा दलितों पर लिखे गए साहित्य भी दलित साहित्य के अन्तर्गत आ सकते हैं? यह तमाम प्रश्न हिन्दी साहित्य के बहस के केन्द्र में है। इस विषय पर दलित लेखकों का तर्क यह है कि गैर दलितों के लेखन में सिर्फ सहानुभूति होंगे, स्वानुभूति नहीं। मगर यह बात निर्विवाद है कि सन् सत्तर-अस्सी के समय हिन्दी साहित्य जगत में जो दलित आन्दोलन हुआ था उसका समर्थन करते हुए जो साहित्य रचा गया। उसे दलित साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया गया।

दलित साहित्य अपनी अस्मिता के पहचान का साहित्य है, जिसमें अनुभव की तीव्रता है, ईमानदारी है, प्रतिरोध एवं प्रतिशोध की भावना है और भविष्य को लेकर चिंतन है। मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'अपना गांव' कबूतरी

नामक दलित युवती की कथा प्रस्तुत करने के साथ साथ ठाकुरों के अत्याचारों का पर्दाफाश करती हैं। जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'नोबार' जातिहीनता की दुहाई देनेवालों की पोल खोल देने वाली हैं। उसी तरह सूरजपाल चौहान की कहानी 'साज़िश' दलितों के खिलाफ सवर्ण लोगों की साज़िश को चित्रित करती है। रमणिका गुप्ता की 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' और डॉ. एन सिंह की 'यादना की परछाइयाँ' में संकलित कहानियाँ भी दलित विमर्श की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कुसुम वियोगी की 'अंतिम बयान' और कुसुम मेघवाल की 'अंगारा' कहानियाँ अलग किस्म की हैं। दोनों ही कहानियों में दलित लडकियों के लाज हरण करनेवाले सवर्ण लडकों के पुरुषत्व को काटकर प्रतिशोध लेने का चित्रण कहानीकारों ने किया है। रत्नकुमार संभरिया की 'शर्त', कावेरी की 'सुमंगली', कृष्ण गोपाल की 'छमिया', सी.बी भारती की 'भूख', गौरीशंकर नागदंश की 'जंगल की आग' गुरुचरण सिंह की 'काली सडक' शत्रुघ्न सिंह अनाम की 'राम नाम सत है' आदि कहानियाँ दलित नारी के यौन शोषण को तो उजागर करती ही है, साथ ही साथ इनमें से अधिकांश कहानियों में विद्रोह चेतना एवं प्रतिशोध की भावना को भी दिखाया गया है। डॉ. दयानंद बटोही की 'सुरंग' कहानी उच्च शिक्षा क्षेत्रों में खासकर विश्वविद्यालयों में दलित छात्रों के साथ जातिवादी मानसिकता के कारण किस तरह दुर्व्यवहार किया जा रहा है, इसका दृष्टांत है। इन कहानियों की सबसे बडी खासियत यह है कि इसके पात्र एक ओर तो अपनी मन की इच्छा को साबित कर लेते हैं, तो दूसरी ओर गैर-दलित मानसिकता को चुनौती भी देते हैं। इस प्रकार समकालीन दलित

कहानियाँ दलितों के इज्जत, अस्मिता और व्यक्तित्व पहचान का दस्तावेज बन जाती हैं।

2.1.1.4 अपराधीकरण का चित्रण

आज समाज एवं राजनीति का अपराधीकरण हो रहा है। यह दुर्भाग्य की स्थिति है कि सत्ता की राजनीति, असामाजिक तत्वों और असामाजिक कार्य व्यापारों को आज प्रश्रय मिल दिल रही हैं। स्वतंत्र भारत की वास्तविक दशा एवं अपराधीकरण का चित्रण हमें संजीव की कहानियों में देखने को मिलता है। 'तीस साल का सफरनामा', 'आप यहाँ है', 'भूमिका तथा अन्य कहानियाँ', 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', 'प्रेतमुक्ति', 'ब्लैकहॉल' आदि कहानियों का मुख्य उद्देश्य भारतीय सत्ता और व्यवस्था का वास्तविक रूप दिखाना तथा उसकी सहयोगी शक्तियों का असली चित्र प्रस्तुत करना हैं। 'अपराध', 'शिनाख्त', 'ऑपरेशन जोना की', 'तिरबेनी का तडबन्ना' 'पूत-पूत! पूत-पूत' और 'अवसाद' नक्सलबाडी आन्दोलन से संबन्धित कहानियाँ है। 'अपराध' कहानी इस धारणा एवं मान्यता को ध्वस्त करती है कि नक्सली अपराधी है। अखिलेश की कहानी 'असर' आपातकाल और उसके बाद के भारतीय राजनीति के भीतर ही भीतर पनपने और पलनेवाली विसंगतियों को उजागर करती है। समाज एवं सत्ता की रक्षा करने की जिम्मा जिनके कंधों पर है, आज वही हिंसा, सेक्स एवं गैर कानूनी घंघो पर लगे हुए हैं। यही सब कुछ वर्तमान समाज में अपराधीकरण को बढावा देते हैं।

2.1.1.5 सांप्रदायिकता और आतंकवाद का चित्रण

आज की कहानी अपने परिवेश की ही उपज है। आज हर जगह अत्याचार, सांप्रदायिकता और आतंकवाद का बोलबाला है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में सुविधाभोगी समाज अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए हर कहीं सांप्रदायिक जहर घुलाते हैं। स्वयं प्रकाश की कहानी 'रशीद का पाइजामा' व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ एवं ईर्ष्या से उत्पन्न सांप्रदायिक माहौल को उजागर करती है। असगर वजाहत की 'जख्म', 'मुक्ति', 'पहचान', 'सारी तालीमात', 'गुरु चेला संवाद' जैसी कहानियाँ सांप्रदायिक राजनीति के असली चेहरे, उसके अन्तर्विरोध आदि को दर्शाती है। 'सारी तालीमात' में धर्म के नाम पर बनी पार्टी के द्वारा गरीब एवं मज़दूरों को किस तरह सांप्रदायिकता के चूल्हे में भूनते हैं, इसकी ओर संकेत है तो 'गुरु-चेला संवाद' में सांप्रदायिकता के पोषकों पर व्यंग्य कसा है।

वर्तमान समय में सांप्रदायिक दंगे मौसमों की तरह सहज हो गए है। दंगों पर मरनेवालों की संख्या अखबारों पर मोटे अक्षरों में छापते हैं। लेकिन किसी को इसकी कोई परवाह ही नहीं है। क्योंकि मनुष्य अब संवेदनहीन हो गए हैं। उसमें अब प्रतिक्रियाएँ नहीं होती। वह इन खबरों के साथ समझौता करने के आदी हो गए हैं। संजय कुंदन की 'सुरक्षित आदमी' शहर के सबसे सुरक्षित नगर में रहकर टी.वी में सांप्रदायिक दंगों की खबरें देखनेवाले एक संभ्रान्त आदमी की विच्छिन्नता को अभिव्यक्त करती है।

सूर्यबाला की 'शहर की सबसे दर्दनाक खबर' सुधा आरोडा की 'काला शुक्रवार' साजिद रशीद की 'पनाह' सांप्रदायिक दंगों को ही आधार बनाकर लिखी गई कहानियाँ हैं। कमलेश बख्शी की कहानी 'दंगा-दंगा खेलें' में चारों ओर जल रही बंबई की एक इमारत के बच्चे मिलकर दंगा-दंगा खेलते हैं। क्योंकि एक-दूसरे को मारना ही धर्म है-अब यही समझ बच्चों के मन में पनपने लगी है। संजीव-निगम की 'खरोंच' विभारानी की 'लौटेगी सबीहा' जितेन्द्र भाटिया की 'कुल-जमा हासिल' सलाम बिन रज़ाक की 'आँधी में चिराग' संतोष श्रीवास्तव की 'तूफान गुज़र जाने के बाद' अलका अग्रवाल सिंगतिया की 'नदी अभी सूखी नहीं' डॉ. माधुरी छेडा की 'हालात' अरविंद की 'हिन्दुस्तान/पाकिस्तान' आदि इसी पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखी गई कहानियाँ है।

पंजाब, कश्मीर तथा अन्य जगहों पर हो रहे आतंकवादी हिंसों का चित्रण भी समकालीन लेखकों ने किए हैं। महीप सिंह की 'आओ हंसें' मृदुला गर्ग की 'अगली सुबह' विजय की 'बूढी शारदा' तथा 'दुम' गुरुवचन सिंह की 'नन्दपुर का बट्ट' तथा चन्द्रकान्ता की कहानियाँ इसी पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है।

2.1.1.6 आंचलिकता

समकालीन कहानिकारों ने कहानी के केन्द्र में ग्राम और नगर के विभाजन को अस्वीकार किया है। समकालीन रचनाकारों ने यहाँ सभी भूमियों

के स्पर्श करने की कोशिश की है। ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति हमें मिथिलेश्वर की कहानियों में मिलती है। महेश कटारे, परदेशी राम वर्मा, संजीव, कैलाश वनवासी तथा पुन्नी सिंह ने भी आंचलिक पृष्ठभूमि पर कहानियाँ लिखी हैं। यहाँ मिथिलेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। मिथिलेश्वर गँवई संस्कृति में पले बढे हैं। इसलिए ग्रामीण परिवेश से वे भली-भाँति परिचित है। गाँवों के सुख-दुख, रुढियाँ, पर्व-त्योहार, मेले, रीति-रिवाज़, अंधविश्वास, अंधश्रद्धा, आदि के प्रति वे वाकिफ है। मिथिलेश्वर की 'विरासत' नामक कहानी में भूत-प्रेत, झाड-फूँक के प्रति जो, अंधविश्वास है उसका मार्मिक चित्रण अंकित हुआ है। 'एक गांव की अन्तकथा' में भी यही बताया है कि गांव के लोग रुढियों एवं अंधविश्वासों में आज भी बुरी तरह जकडे हुए हैं। इतना ही नहीं इक्कीसवीं सदी में भी इनका विश्वास है कि कुष्ठ रोग जैसी बीमारियाँ वंश परंपरा में चलनेवाली असाध्य लाइलाज बीमारियाँ हैं। हरखू को कुष्ठ रोग होने के कारण गांव के लोग उसे तिथि, मुहूर्त देखकर जल समाधि देते हैं। उसकी बेटी फूलिया इसका विरोध करती है। लेकिन वहाँ के पढे-लिखे लोग भी अंधविश्वासों के प्रति आपत्ति नहीं उठाते। 'सवाल' भी एक अपाहिज कुष्ठरोगी की कहानी है, जिसे हमारा समाज कहीं भी जगह देने के लिए तैयार नहीं है। मिथिलेश्वर की कहानी 'बीजारोपण' में यही बताया है कि हमारे गांव के बुद्धिजीवि वर्ग भी अपनी सोच को कार्यान्वित नहीं कर पाते। 'सिंबोगा की वापसी' मिथिलेश्वर की आदिवासी जीवन और संस्कृति पर आधारित कहानी है। प्रस्तुत कहानी में आदिवासी जीवन को जानने और आदिवासी संस्कृति से परिचित कराने की कोशिश की गई

है। इनकी एक अन्य कहानी 'अजगर करै न चाकरी' में किस तरह हमारे पवित्र धार्मिक स्थल अपवित्र होते जा रहे हैं, इसका संकेत मिलता है। धर्म के नाम पर चलनेवाले पाखण्ड, अनैतिकता, अत्याचार एवं यौनाचार का पर्दाफाश इस कहानी में हुआ है।

2.1.1.7 बाल कहानियाँ

समकालीन हिन्दी बाल साहित्यकारों में उल्लेखनीय नाम है शुभदा पाण्डेय का, जिनकी कहानी संग्रह है 'दूध पानी मटर में पानी', 'इन्दुपुरी का पत्र', 'नन्हें -मुन्नों की कहानियाँ' आदि। आर्थिक असमर्थता के कारण बहुत सारे बच्चे स्कूली शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। ऐसे बच्चे अपने माँ-बाप का हाथ बँटाने के लिए स्कूल जाने के बजाय कल-कारखानों में काम करते हैं। स्कूल, किताब, पेन, पेन्सिल जैसी चीज़ों से ये कोसों दूर रहते हैं। शुभदा पाण्डेय की 'रतन गया स्कूल' नामक कहानी इसी परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी है। 'माँ कह एक कहानी' नामक संग्रह में इन्होंने नैतिक मूल्यबोध का प्रभावकारी शब्दांकन प्रस्तुत किया है। इस कृति में मूल्य प्रतिपादन के माध्यम के रूप में कथाकार ने मनुष्येतर जीवों को चुना है।

2.1.1.8 आर्थिक विसंगतियों का चित्रण

पूँजीवादी अर्थतंत्र से जूझते आम आदमी की तकलीफों का चित्रण समकालीन लेखकों ने किया है। शोषण का शिकंजा इतना विकराल बन गया है कि दिन-ब-दिन अमीर-गरीब का फासला बढता जा रहा है। दिन रात महनत

करनेवाले हैं, किसान मजदूर लेकिन इसका मुनाफा सिर्फ मालिक को प्राप्त होता है। इब्राहीम शरीफ की 'जमीन का आखिरी टुकडा' कहानी में शोषणकारियों के चपेट में पडकर तडपनेवाले एक ग्रामीण परिवार की करुण कथा चित्रित हुआ है। सूदखोरों के चक्कर में फँसकर जमीन का आखिरी टुकडा भी भेजने को विवश हुए परिवार की दयनीयावस्था का चित्रण किया है कहानिकार ने। ओम गोस्वामी की 'दर्द की मछली' कहानी में भी निम्न वर्ग की आर्थिक तंगी को दर्शाया गया है। स्वदेश दीपक की 'तमाशा' कहानी गरीबी और भूख्र की समस्या को उजागर करता है। शहर-शहर में तमाशा दिख्रानेवाले परिवार के लिए पेट भर ख्राना भी नसीब नहीं होता है। पेट का भूख्र इतना भयानक है कि बेटे के पेट में चाकू घुसेट लेने की तमाशा दिख्राने को आदमी मजबूर हो जाता है। यही कहानी का कथ्य है।

दिनेश पालीवाल ने 'एक चालू आदमी' में गरीबी और भूख्र की जलती समस्या का ही चित्रण हुआ है। यहाँ किसना जैसा आदमी कोई-न-कोई जुर्म करके जेल जाने की बात इसलिए सोचता है, क्योंकि कम से कम जेल में भूख्रों मरना नहीं पडेगा। मुद्राराक्षस की 'निहत्थे' श्रवण कुमार की 'नहीं, यह कोई कहानी नहीं' के पात्रों में भी ऐसी ही मानसिकता पाई जाती है। भूख्र की अमानवीयता को गहराई से चित्रित करने की कोशिश यहाँ कहानिकारों ने किया है।

2.1.1.9 शिथिल हो रहे मानवीय संबन्ध

बीसवीं और इक्कीसवीं सदी की सामाजिक स्थिति यह रही कि व्यक्ति और परिवार तथा परिवार और समाज के पारस्परिक संबन्धों में तनाव उपस्थित होने लगे। व्यक्ति आदर्श और यथार्थ के बीच फंसकर कांच की तरह टूटते रहे। व्यक्ति के लिए अब तमाम नाते-रिश्ते जैसे माता, पिता, पति, पत्नी, बच्चे सब महत्वहीन हो गए है। समकालीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों के ज़रिए बदलते मानवीय संबंधों एवं मूल्यों को चित्रित किया है। आज व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का संवेदनात्मक एवं रागात्मक संबन्ध नहीं के बराबर हैं। सारे संबन्धों के मूल में अब केवल निजी स्वार्थ छिपा हुआ है। 'अर्थ' और 'पद' के पीछे भागनेवाला आज का व्यक्ति निरंतर कुंठित होता जा रहा है। समकालीन कहानिकारों ने आज के इस 'व्यक्ति' का चित्रण अपनी कहानियों में बहुत बारीकी से किया है। शंकर की कहाना 'ख़ुशबू' उत्तर आधुनिक बाज़ारवाद की चपेट में फँसफर मानवीय संबन्धों, रागात्मक रिश्तों की ख़ुशबू के अपहरण की त्रासदी की ओर इशारा करती है। 'अपने अपने कुरुक्षेत्र' में कृष्णा अग्निहोत्री यही दिख्राती है कि एक ऐसा धिनौना चक्र आजकल चल रहा है कि वह रिश्तों की अहमियत और महत्व को बडी सरलता से कुचल रही है। संबन्धों की बारीक पडताल करनेवाली लेख्रिका गीतांजली श्री की कहानी 'प्राइवेट लाइफ' आधुनिक युवती के अपने तरीके से उन्मुक्त और स्वच्छन्द जीवन जीने के अन्तर्द्वन्द्वों और संकल्पों से लगातार जूझने की कहानी है। विवाह, परंपरा और परिवार सबके प्रति उसके मन में विद्रोह की भावना पनपती है। असगर वजाहत

की 'सारी तालीमात', हरि भटनागर की 'मेज़ कुरसी तख्त टाट' तथा 'सगीर और उसकी बस्ती के लोग' विनोद मिश्र की 'जुमराती मियां' शशांक की 'अनार' जैसी कहानियाँ भी संबन्धों के नए-नए पर्तों का उद्‌घाटन करती है।

2.1.1.10 उत्तर औपनिवेशन के विकराल रूप का चित्रण

तत्कालीन समाज की सबसे बडी समस्या नवउपनिवेशवाद एवं भूमण्डलीकरण से है। आज समाज में जो अमानवीयता, अपसंस्कृति आदि दिखाई पडती हैं, उन सबके मूल में इस उत्तर औपनिवेशन की ही जडें हैं। समकालीन कहानीकार इन स्थितियों से पूरी तरह अवगत है और इसके दुष्परिणामों को अपनी कहानियों के ज़रिए अंकित करने की कोशिश भी पूरी शिद्दत के साथ किया है। राजकुमार गौतम की 'कब्र', 'इंटिमैट चैनल', जितेन्द्र भाटिया की 'सिद्धार्थ का लौटना' कमल कुमार की 'खोखल' आदि इस तरह की ही कुछ कहानियाँ है। इनमें बाज़ार से प्रभावित होकर मानव अपनी मानवता को ही खो बैठने का चित्रण है। जिस पर विस्तार से विचार अगले अध्याय में किया जाएगा।

2.1.2 समकालीन हिन्दी उपन्यास: एक अनुशीलन

उपन्यास केवल किस्सागोई नहीं है, बल्कि एक प्रकार का ऐसा भाषाई प्रयत्न अथवा उद्यम है, जिसमें एक जीवन समूह अपनी संपूर्णता के साथ पाठकों के सम्मुख साकार हो उठते हैं। यह हमारी चेतना पर अनुभवों के खालीपन को भरते हुए घटा की तरह निरंतर छाया रहता है। और हमारे अन्तर्मन में वैचारिक

उथल-पुथल पैदा करते हैं। उपन्यास की यात्रा रेल की गति के समान है, जो जीवन के अनगिनत मोडों, उतार-चढावों और दिशाओं की ओर भागती रहती है। समकालीन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में जीवन की बहुविध विसंगतियों, असंगतियों का चित्रण किया है। लेखक, पाठक के सम्मुख इन कुरूपताओं एवं नग्नताओं का प्रदर्शन इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि जीवन के अनेक रूपों एवं नंगे सच्चाइयों के प्रति वे पाठक को सजग करना चाहते हैं। समकालीन उपन्यासों की कुछ सामान्य विशेषताएं निम्न प्रकार है-

2.1.2.1 समकालीन उपन्यास और स्त्री विमर्श

समकालीन हिन्दी साहित्य में महिला लेखन विशिष्ट एवं पृथक प्रवृत्ति के रूप में दृष्टिगत होता है। महिला लेखन में अनुभूति की सहानता के साथ साथ विचारों की तीव्रता, स्वानुभव का प्रत्यक्षीकरण एवं मार्मिक चित्रण, पुरुष के रु-ब-रु खडे होकर अपनी अस्मिता की पहचान करने की बेचैन कोशिश, न्याय की दुहाई न देकर स्वयं न्याय छीनने की जदादोजहद आदि देख सकते हैं।

समकालीन महिला लेखिकाओं में एक खास पहचान रखनेवाली चित्रा मुद्गल का बृहद उपन्यास 'आवां' एक मजदूर की बेटी नमिता पाण्डेय की मोहभंग, पलायन एवं वापसी की कहानी कहती है। पिताजी के लकवाग्रस्त होने के कारण जीविका चलाने के लिए नमिता को पापड बेलने का काम करना पडता है। बाद में हालात उसे बाज़ार के हवाले कर देता है। जिसके एक सिरे पर अंजना वासवानी जैसी औरत है तो दूसरे पर संजय कनोई जैसे बडे व्यापारी, जो नमिता जैसी कुँआरी लडकियों को अपने प्रेम पाश में उलझा-फँसाकर उसे

किराए की कोख में तब्दील कर देता है। उपन्यास स्त्री को केन्द्र में रखकर पुरुष की काम दृष्टि को निर्वसन करने की कोशिश करता है। उपन्यास के ज़रिए लेखिका ने नव बाज़ारतंत्र में स्त्री को महँगी वस्तु की तरह बिकाऊ बनानेवाले उत्तर पूँजीवाद के प्रति बेहद सख्त और असहमतिपूर्ण रबैया अपनाया है।

मैत्रेयी पुष्पा की 1998 में प्रकाशित उपन्यास है 'इदन्नमम'। उपन्यास का मुख्य पात्र मेदा है जो स्त्री की ऐतिहासिक यातना, सनातन निर्वासन और पुरुष दिमाग की सांस्कृतिक चालाकियों और सामाजिक बदमाशियों की पीडा और व्यथा से परिचित एवं सचेत है। उपन्यास मुख्यतः आधुनिक स्त्री की बदलती सोच और पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था के प्रीत उसके विद्रोह को प्रकट करता है। मंदा अपनी प्रतिज्ञाओं, संकल्पों को स्वयं अपने बलबूते पर पूरा करती है। उपन्यास के द्वारा मैत्रेयीजी अपने समय के सामाजिक व्यवस्थावादियों से खुला शास्त्रार्थ करना चाहती है, और यह बोध भी करा देना चाहती है कि पुरुष यदि स्त्री की सहभागिता का कायल नहीं है तो वह आगे का सफर अपने 'पौरुष' के बलबूते भी तय कर सकती है। उपन्यास में मंदाकिनी भी यही करती है।

मैत्रेयी पुष्पा का 2000 में प्रकाशित उपन्यास 'कस्तूरी कुण्डली बसै' अपने लिए जगह बनाती विद्रोही स्त्री कस्तूरी के जीवन संघर्ष की दास्तान प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास स्त्री स्वतंत्रता के जागरण की कथा कहता है। "पुरुष वचस्वीय सामाजिक बंधन में, स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होने के प्रयास में स्त्री को किन-

किन समस्याओं का सामना करना पडता है, स्त्री की इस जद्दोजहद का आख्यान इस उपन्यास में प्राप्त होता है।"[1]

नासिरा शर्मा का चर्चित उपन्यास 'ठीकरे की मंगनी' संघर्षों से निकलकर अपने भविष्य को सुरक्षित रखनेवाली एवं आर्थिक रूप के स्वावलंबी एक नारी की कथा है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'चाक' की नायिका के लिए स्वतंत्रता का अर्थ चुनाव लडना है। वह अधिक पढी-लिखी न होने पर भी उसमें संकल्प की शक्ति मौजूद है। अन्याय से लडने, ज्यादतियों का मुकाबला करने, नारी अधिकारों के लिए अपनी जान तक देने की हिम्मत और दृढता उसमें है। इनका ही एक अन्य उपन्यास 'अलमा कबूतरी' में एक साधारण लडकी अलमा परिस्थितियों के दबाव में आकर किस तरह शक्ति अर्जित करती है, इसका चित्रण है।

सूर्यबाला का 'अग्निपंखी' उपन्यास पारिवारिक धरातल पर आधारित है। जिसमें परिवार की जटिल समस्याएँ, रिश्तों की टकराहट और अपनेपन की भावना के लुप्त होने के संदर्भों को चित्रित किया है। उनका दूसरा उपन्यास 'मेरे संधिपत्र' के शिवा के जीवन में एक छटपटाहट रहती है। जीवन यापन के लिए निरंतर संधि करके वह जिंदगी बिताती है। शिवा और पति का संबन्ध तनावग्रस्त है, इसलिए वह समझौते में जीती है। जीवनभर सहनशीलता की मूर्ती

---

[1] डॉ.वी. के अब्दुल जलील (सं) – 'समकालीन हिन्दी उपन्यासः समय और संवेदना', पृ.58

बनकर स्वयं को नकारती रहती है। उनका ही एक अन्य उपन्यास 'दिशांत' की कुंती शिक्षिका होने के बावजूद भी समाज के कुचक्र का हिस्सा बन जाती है। उनका 'सुबह के इंतज़ार तक' की भानु अपनी अंतिम समय तक समाज से, संस्कारों से तथा अपने आपसे संघर्षरत है। समाज द्वारा अपमानित होने पर भी वह साहस के साथ आगे बढती है।

मालती पारुल का उपन्यास 'जहाँ पौ फटनेवाली है' नारी के मौन संघर्ष को प्रस्तुत करता है। यह अनुसूचित जाति से संबन्धित, अनपढ कृष्णा भाई की कहानी है, जो अपनी बेटी की सहायता से पढ-लिखकर योग्य बन जाती है। उसके पति का चुनाव में पराजित होने पर मजबूरन उसे चुनाव लडना पडता है। बाद में वह एम.पी. बन जाती है। पत्नी को चुनाव में मिली सफलता देखकर ईर्ष्याग्रस्त पति उससे नाता तोड देता है। यहाँ एक अशिक्षित नारी की राजनेता के रूप में कायापलट एवं उसमें उत्पन्न आत्मसम्मान की भावना को दर्शाया है। इसी तरह कृष्णा अग्निहोत्री का उपन्यास 'अभिषेक' की विधवा वेणु को अपने पति की जायदाद से ससुराल से वंचित किया जाता है। बाद में वह एक मिल में काम करती है, जहाँ उसे सफलता प्राप्त होती है। इससे ईर्ष्यालु होकर पुरुष वर्ग उसे अपवित्र बनाने की कोशिश करते हैं। लेकिन वह निडर होकर इसका सामना करती है और अंत में मुख्य मंत्री बन जाती है। नमिता सिंह की 'अपनी सलीबें' एक कामकाजी और बौद्धिक रूप से सजग एवं सचेत युवती नीलिमा के आंतरिक ध्वंस की कथा है। मणिका मोहिनी की 'पारु ने कहा था' प्रेम विवाह के टुटने और तीखे मोहभंग के पश्चात् पति से अलग हुई एक युवती के भीतरी

उजाड और अकेलेपन की कथा है। 'शुभा वर्मा का 'कोई एक' स्त्री के मन की अगम घडियों में छिपी किसी तलाश को रूपायित करता है।'[1] एक स्त्री जो तीन पुरुषों के संपर्क में आती है, तीनों से प्रभावित होती है, मगर किसी एक की चाहत उसके मन में इस तरह गूँजनी है कि वह निरंतर भटकन में रहती है, भागती फिरती है।

क्षमा शर्मा का 'परछाई अन्नपूर्णा' एक कामकाजी स्त्री के बहुत से अनकहे दुखों और तनावों की व्यथा कथा है। वीणा सिन्हा की 'पथप्रज्ञा' की कथावस्तु पुराणगाथा काल की है जहाँ स्त्री महज एक सामग्री की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती है, और एक मानवी के रूप में उसके अपमान को कोई महसूस नहीं करता। अरुणा कपूर का उपन्यास 'धूप आती है' निम्नवर्गीय परिवार में पल रही एक स्त्री के दुख और उसके भीतर मौजूद महत्वाकांक्षाओं की कथा कहता है। झोंपडपट्टी की हिकारत भरी जिंदगी में जीती इंदु, बाद में सफलता की सीढियाँ चढ जाती है। उपन्यास में झोंपडपट्टी में रहनेवाले लोगों की प्रताडना भरी जिंदगी का चित्रण भी हुआ है। 'जहाँ एक ओर गरीबी की मार है, दूसरी ओर आपसी झगडे और ईर्ष्याएं है, और फिर रोग, शोक और बीमारियाँ है।'[2]

केवल स्त्री लेखिकाओं ने ही नहीं बल्कि कुछ पुरुष लेखकों ने भी स्त्री के चरित्र को केन्द्र में रखकर उपन्यासों की रचना की है। इसमें कुछ प्रमुख

---

1 दस्तावेज़ (पत्रिका), अक्तूबर-दिसंबर 2000, पृ.58

2 उपर्युक्त, पृ.61

उपन्यास है- सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चांद चाहिए', महेन्द्र भल्ला का 'देश और तीसरा आदमी', नन्द भरद्वाज का 'आगे खुलता रास्ता' आदि। 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास का केन्द्र पात्र वर्षा वसिष्ठ है। जो स्वतंत्रता के नाम पर सिगरेट शराब पीना, देर रात तक बाहर रहना, भिन्न पुरुषों के साथ मनमाने यौन संबन्ध रखना, अपनी कमाई को मौज मस्ती में बेहिसाब फूँकना आदि को अपना शान मानती है। नन्द भरद्वाज का उपन्यास 'आगे खुलता रास्ता' स्त्री की पीडा, उसका संघर्ष, दर्द, प्रेम, प्रगति और दृढ इच्छा शक्ति की कहानी को खुलकर बयान करती है। उपन्यास अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए जूझती सत्यवती की कहानी है। यहाँ स्त्री की जिजीविषा एवं संघर्षगाथा का एक अनूठा दस्तावेज़ उपन्यासकार प्रस्तुत करता है।

2.1.2.2 ग्रामीण, प्रांतीय एवं आंचलिक जीवन का चित्रण

समकालीन उपन्यासों में विषयगत एवं रचनागत विविधता देख सकते हैं। गांव के परिवेश एवं आंचलिक बोध पर आधारित उपन्यास भी यहाँ कम मात्रा में नहीं मिलता। समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों में संजीव, मैत्रेयी पुष्पा, वीरेन्द्र जैन, भगवानदास मोरवाल, मिथिलेश्वर, पंकज बिष्ट, विद्यासागर नौटियाल आदि नाम उल्लेखनीय है। 'समकालीन उपन्यासकार यथार्थ चित्रण के प्रति सजग हैं। इन उपन्यासों में न केवल ग्राम संस्कृति, ग्रामवालों की पीडा

का अंकन होता है, बल्कि उस प्रदेश की ठेठ बोली का भी प्रयोग करने में भी उपन्यासकार सजग है।'[1]

पंकज बिष्ट का पहाडी जीवन पर आधारित उपन्यास है 'उस चिडिया का नाम'। उपन्यास में एक ओर पहाडी लोकगीत, पहाडी जीवन की लोक कथाएं वहाँ के विकट प्राकृतिक भूगोल, स्थानीय रीति रिवाज़ आदि का चित्रण है तो दूसरी ओर वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्म शास्त्र, समाज विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र, वास्तु विद्या और समकालीन राजनीति आदि ने आंचलिकता का अतिक्रमण कर हमें एक भिन्न दुनिया में ले जाता है। उपन्यास रमा, पार्वती आदि पात्रों के द्वारा पहाडी स्त्रियों की दर्दनाक जिंदगी का भी बयान करती है। उपन्यास के पन्ने-पन्ने पर पहाडी जिंदगी का कठिनतम समय दर्ज हुआ है। उपन्यासकार यहाँ उत्तराखंड की पुरातन संस्कृति की एक भरी-पूरी प्रामाणिक झांकी प्रस्तुत करते हैं। भूख, गरीबी, वीरानी, पिछडापन, अंधविश्वास, अस्तुविधाएं, और औरत की यातना इन सबसे ओतप्रोत पहाडी ज़िन्दगी की सच्चाई को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में उपन्यासकार सफल हुए हैं।

विद्यासागर नौटियाल का 'सूरज सबका है' उपन्यास में उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य गढवाल के लोकजीवन को रेखांकित करना है। गढवाल पराक्रमी और वीरों का देश है, जो दुश्मनों को मूली की तरह काटते में हिचकते नहीं हैं। उपन्यास में ऐसे बहुत सारे वीरों की गाथाएं है, जिनको केन्द्रित कर स्थानीय जनता के उस इतिहास को लिखने की पहल की गई है। 'कथानक का विस्तार

---

[1] एम. षण्मुखन (सं) – 'समकालीन हिन्दी उपन्यास', पृ.86

उन्नीसवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी के अर्द्धांश तक फैला हुआ है। इस तरह गुलामी के दिनों से लेकर आज़ाद होने के दिनों तक, उपन्यास के पूर्वार्द्ध में यदि लोकजीवन का उभार है तो उत्तरार्द्ध में इतिहास तत्व का।'[1] उपन्यासकार ने गढवाल और उसके पारंपरिक जीवन को बेहद करीबी और आत्मीय निगाह से देखते हुए उसकी जो पहचान रेखा खींची है, उससे जातीय गौरव, दर्प और स्वाभिमान के मूल्य उभर आते हैं।

संजीव की 'धार', 'पांव तले में दूब' और 'जंगल जहाँ शुरु होता है' आदि भी आंचलिक बोध के उपन्यास है। ' 'धार' की कोयला खनन से संबन्धित कथावस्तु है, इसमें नादान दलित जन जातियों पर होनेवाले अन्याय का चित्रण है।'[2] साथ ही दलित नारी की पीडा का भी मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। संजीव की 2000 में प्रकाशित 'जंगल जहाँ शुरु होता है' उपन्यास के केन्द्र में पश्चिमी चंपारन की थारू जनजाति की कथा है। 'मिनि-चंपल के क्षेत्र की थारू जनजाति को जंगल में संघर्षमय और शोषित जीवन बिताना पडता है। स्वाधीन भारत में अभाव, पिछडापन, शोषण, यंत्रणा, उत्पीडन, विस्थापन, भूख, जैसी समस्याओं से त्रस्त है। वे एक ओर सेठ साइकारों के शोषण से प्रताडित है तो दूसरी ओर डाकुओं की कुरीतियों से। इन सबसे बढकर उन्हें पुलिस के

---

1 विजय बहादुर सिंह- 'उपन्यास समय और सर्वदना', पृ.44

2 एम. षण्मुखन (सं), 'समकालीन हिन्दी उपन्यास', पृ.86

अन्याय व अत्याचार भी सहने पडते है।'[1] प्रस्तुत उपन्यास द्वारा अंचल विशेष के ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक जीवन को बहुत ही निकट से देखने परखने का प्रयास लेखक द्वारा हुआ है। वे डाकुओं को जन्म देनेवाली जालिम व्यवस्था को यहाँ दोपी ठहराता है। उपन्यकार का मानना है कि 'जंगल बाहर नहीं, खुद हमारे अंदर ही उगा आ रहा है।'

संजीव का ही एक अन्य उपन्यास 'सावधान नीचे आग है' में कोयला खदान के दमघोटू माहौल में जीने के लिए विवश मज़दूरों की जीवन गाथा है। उपन्यास का परिवेश बिहार के झरिया, धनबाद क्षेत्र का कोयलांचल है, जिसके तहत चंदनपुर गांव आता है। कोयलरी में मज़दूरों से ज्यादा-से-ज्यादा कोयला निकलवाने के लालच में खदान का जनरल मैनेजर भट्ट सुरंग के नीचे, गैलरी के मोड से क्रासकट करवा देता है। उसकी लापरवाही से भयंकर दुर्घटना घटिता हो जाती है। सभी सुरंगों में पानी भर जाता है। और ऊधमसिंह एवं हज़ारों मज़दूर वहीं मर जाते हैं। प्रशासन और राजनीतिज्ञ जानबूझकर पानी निकालने में देरी करते हैं, क्योंकि मज़दूरों के जीवित निकल आने पर सारे झूठ का पर्दाफाश हो जाएंगे। 'संजीव ने इस उपन्यास के माध्यम से कोयलांचल के अमानवीय शोषण एवं दमन को अखिल भारतीय परिवेश में देखने का प्रयास किया है। वे भारत के तमाम खान मजदूरों की दर्दनाक जिंदगी की जीति जागती तस्वीर हमारे सामने उकेरते हैं। जो व्यवस्था झरिया के कोयलांचल के

---

[1] डॉ.वी के अब्दुल जलील (सं)- 'समकालीन हिन्दी उपन्यास, समय और संवेदना', पृ.201

लाखों लोगों की जान से खेल रही है, वही पूरे देश के खदानों में कार्यरत मजदूर परिवारों का बदहालत के लिए भी दोषी है।'[1]

मिथिलेश्वर का उपन्यास 'यह अंत नहीं' में देहाती दुनिया के बदलते तेवरों को पकडने का प्रयास हुआ है। युवा दलित दंपति जोखन और चुनिया के जीवन संकट और संघर्ष के माध्यम से मानवीय जीवन के उच्चतर आदर्श की खोज करना उपन्यासकार का लक्ष्य है। चुनिया के तनाव भरी जीवन यात्रा के दौरान स्त्री शक्ति को उभारने का प्रयास भी किया गया है। जोखन और चुनिया को जीवन की अन्तहीन समस्यायें हताश नहीं करती, बल्कि सकारात्मक ढंग से उनसे जूझने का साहस प्रदान करती हैं। मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नम्म' भी एक उल्लेखनीय उपन्यास है, जिसमें बुन्देलखंडी जीवन का यथार्थ चित्रित हुआ है। वहाँ की भाषा का प्रयोग भी उपन्यास में सशक्त रूप में उभर कर आयी है। यह नारी केन्द्रित उपन्यास है। इसी तरह लेखिका का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'अलमा कबूतरी' में भी कबूतरा जाति की पीडाजनक जिंदगी का चित्रण मिलता है। 'भगवानदास मोरबाल का उपन्यास 'काला पहाड' उल्लेखनीय उपन्यास है। इसमें सांप्रदायिकता फैलानेवाले राजनीतिज्ञों एवं सांप्रदायवादी शक्तियों की कटु आलोचना भी की गई है। इसका कथ्य राजस्थान के मेवाड के एक गांव नगीना से संबन्धित है।'[2]

---

[1] डॉ.वी के अब्दुल जलील (सं)- 'समकालीन हिन्दी उपन्यास समय और संवेदना', पृ.209

[2] एम. षण्मुखन (सं) – 'समकालीन हिन्दी उपन्यास', पृ.86

शशिप्रभा शास्त्री का 'हर दिन इतिहास' ग्रामीण पृष्ठभूमि को लेकर लिखा गया उपन्यास है। यह गाँव की एक स्त्री की दुख एवं जीवन संघर्षों की कथा है। प्रभा खेतान की मारवाडी जीवन को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है 'छिन्नमस्ता' और 'पीली आँधी'। 'छिन्नमस्ता' तो मारवाडी परिवार की एक युवती के अपने ही घर में बेगाने होते जाने की कथा है। 'पीली आंधी' भी मारवाडी जीवन पर आधारित एक अच्छा और बृहद उपन्यास है। मारवाडी समुदाय का संपूर्ण एवं सही तस्वीर हमें इस उपन्यास से प्राप्त होता है।

चन्द्रकान्ता का उपन्यास 'ऐलान गली जिन्दा है' तथा 'यहाँ वितस्ता बहती है'- दोनों के केन्द्र में कश्मीरी जन जीवन और संस्कृति है। 'ऐलान गली जिन्दा है' में लेखिका कश्मीर की उस असलियत को हमारे सामने रखती हैं, जिसमें कीचड ही कीचड है। यहाँ के लोग घोर सांसारिक है, जिनके लिए छल-कपट, सच-झूठ सब जिंदगी की ठोस सच्चाइयाँ है। 'यहाँ वितस्ता बहती है' के केन्द्र में भी कश्मीर है। यहाँ कश्मीर अपने अच्छे-बुरे सभी मौजूदा अक्सों और अपनी खरी सांस्कृतिक पहचान के साथ विद्यमान है।

2.1.2.3 विभाजन की त्रासदी एवं सांप्रदायिकता का चित्रण

भारत विभाजन की त्रासदी एवं सांप्रदायिकता को लेकर हिन्दी उपन्यास लेखन की एक सुदीर्घ परंपरा है। समकालीन उपन्यासकारों ने भी इस विषय पर अपना योगदान पूरी निष्ठा के साथ अर्ज किया है। अब्दुल बिस्मिल्लाह कृत 'झीनी-झीनी बीनी चादरिया' उपन्यास में सांप्रदायिक और धर्मांध

दृष्टिकोणवालों पर तीखा प्रहार किया गया है। लेखक ने इसमें निम्नवर्गीय मुस्लिम परिवारों में व्याप्त रूढिवादिता की पर्तें उघाडकर बेबाकी से पेश किया है, साथ-साथ उपन्यास में हिन्दु-मुसलमानों के बीच की दीवार, चुनावी हथकंडेबाज और समाज के ठेकेदारों के षडयंत्र आदि का भी खुलासा किया है। लेखक के अनुसार समाज में दो ही धर्म है- अमीर और गरीब। अमीर मुसलमान और अमीर हिन्दु मिलकर गरीबों का न सिर्फ आर्थिक रूप से शोषण करते हैं, बल्कि उनके अंदर के धार्मिक भावनाओं को उभारकर दंगे करवाते हैं, यही दिखाने का प्रयास उपन्यासकार ने किया है।

मंजूर एहतेशाम का उपन्यास 'सूखा बरगद' में उपन्यासकार ने मुस्लिम समाज की मानसिकता, धर्म निरपेक्षता, व्यक्ति का एकदम धार्मिक बन जाने का कारण आदि बातों का चित्रण यथार्थ के धरातल पर किया है।'[1] गीतांजली श्री का 'हमारा शहर उस बरस' सांप्रदायिकता को लेकर लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास में लेखिका ने धार्मिक हिंसा एवं सांप्रदायिकता के जडों तक पहुँचने की कोशिश की है। उपन्यास में लेखिका ने उन बुद्धिजीवियों के असली चरित्र को उकेरा है, जिनमें कई जटिल गांठें और पेंच हैं। ये ऐसे बौद्धिक लोग है, जो सांप्रदायिक दंगों के यथार्थ और मनोविज्ञान को भली-भाँति समझते हैं। लेकिन जब दंगा होता है, तो चाहे-अनचाहे वे भी हिन्दु और मुसलमान बन जाते हैं। उपन्यास बुद्धिजीवियों के इस दोहरेपन को उघाडता है और यह सवाल भी उठाता

---

[1] नवनिकष (पत्रिका), जुलाई-अगस्त 2012, पृ.25

है कि सांप्रदायिक नफरत के वजहों को जानने के बावजूद भी क्यों हम उन सबसे ऊपर नहीं उठ पा रहे है?

संजना कौल का 'पाषाण युग' सांप्रदायिक एवं राजनीतिक हिंसे के कई शक्ल हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। 'उपन्यास निरंतर हादसों और त्रासदियों से गुज़रते कश्मीर के फटे हुए दिल और फटी हुई छाती का अविस्मरणीय दस्तावेज है।'[1] उपन्यास में प्रस्तुत कथ्यात्मक स्थितियाँ इस कदर वास्तविक है कि कश्मीर के रक्त रंजित त्रासदी से पाठक को रू-ब-रू कर देता है। कथा मुख्य रूप से कश्मीरी पंडितों की त्रासदी और तबाही से जुडी हुई है। उन काश्मीरी मुसलमानों के दर्द को भी टटोलती है, जो रक्तपात से आहत है, जो कभी कश्मीर की हरी-भरी वादियों की बर्बादी नहीं चाहते और हिन्दुओं की मदद करना चाहते हैं, मगर लाचार है। नासिरा शर्मा का 'जिन्दा मुहावरे' भी विभाजन के दर्द को अभिव्यक्त करनेवाला उपन्यास है, जिसमें देश के साथ साथ परिवार भी बँटता है। एक भाई हिन्दुस्तान में रहता है, दूसरा पाकिस्तान चला जाता है। उस समय वे नहीं जानते थे रियासत भाई और भाई के बीच कुछ ऐसी सख्त दीवारें खडी कर देगी कि एक दूसरे के दर्द और संवेदना से उनका रिश्ता हमेशा के लिए कट जाएगा। जब ये बरसों बाद एक दूसरे से मिलते हैं, तब भी पूरी तरह मिल नहीं पाते और उनके बीच में एक अदृश्य दीवार बनी रहती है। दोनों उसे महसूस करते हैं, दोनों उसे ढहाना चाहते हैं, पर दोनों

---

[1] दस्तावेज़ (पत्रिका), अक्तूबर-सितंबर 2000, पृ.62

अपनी अपनी जगह लाचार एवं बेबस रह जाते हैं। उपन्यास बंटवारे से उत्पन्न मानवीय एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उजागर करता है।

2.1.2.4 शिशा जगत की समस्याओं का चित्रण

समकालीन रचनाकारों ने शिक्षा जगत अथवा अकादमीय दुनिया से संबन्ध रखनेवाले उपन्यास भी रचे हैं। उषा यादव के तीनों उपन्यास- 'धूप का टुकडा', 'एक और अहल्या' तथा 'कितने नीलकंठ' इसी विषय को लेकर लिखे गए हैं। 'धूप का टुकडा' एक सघन उपन्यास है। जिसमें एक साधारण परिवार में जन्मे बडे सपनों एवं निश्चय रखनेवाली रुचिरा नामक लडकी की जीवन संघर्ष की कहानी है। माता-पिता के मृत्यु के बाद भाई और भाभियाँ उसके शोध का मज़ाक उडाते हैं। वह टूटती है लेकिन हार नहीं मानती दृढ संकल्प के साथ होस्वल में सफाई करनेवाली नौकरानी का काम करके अपना शोधकार्य पूरा कर देती है। 'एक और अहल्या' में शोध के दौरान गाइड द्वारा किए जानेवाले दैहिक शोषण का नग्न चित्रण प्रस्तुत किया है। अपने सवर्णपन के अहंकार से गाइड की पत्नी शोध छात्रा को 'चूहडो-चमार' कहकर संबोधित करती है। इतना ही नहीं, उस शोध छात्रा को गाइड अपने साथ यात्रा पर ले जाकर उसे फँसाने के लिए नीच षडयंत्र थी रचते हैं।

'कितने नीलकंठ' उपन्यास शिक्षा जगत के भीतरी चक्रव्यूह में फँसे एक बेरोजगार युवक की कहानी है, जिसे अपने रिसर्च के दौरान शोध निर्देशक के शोषण का शिकार होना पडता है। शिक्षा जगत के आदर्शों और गुरुजनों के

प्रति उसकी अटूट आस्था की नींवे हिल जाती है। बाद में उसे एक स्कूल में नौकरी मिलती है, जहाँ पूरी लगन से पढाने के बावजूद भी उसकी हैसियत बहुत मामूली समझ जाता है। नौकरी से इस्तिफा देने के बाद वह दुखी और तनावग्रस्त हो जाता है। उपन्यासकार यहाँ यही दिखाने की कोशिश करता है कि आज के अकादमिक दुनिया में एक सच्चे और ईमान्दार आदमी के लिए कहीं जगह नहीं है।

2.1.2.5 समकालीन उपन्यासों में दलित जीवन की व्यथा कथा

सदियों से शोषित एवं पीडित दलितों के दर्द भरे जीवन का पर्दाफाश एवं मुक्ति की छटपटाहट को समकालीन उपन्यासकारों ने रेखांकित किया है। दलित लेखकों के अलावा गैर दलित लेखक भी इस क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाकर दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति दर्ज किए हैं।

मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व' उपन्यास में सदियों से जमींदारों, नवाबों, काश्तकारों के यहाँ गुलामी कर रहे दलितों की व्यथा कथा का चित्रण है। उपन्यास में बंशी, नौकरों को जानवरों से भी बदतर नजरिए से देखनेवाले नवाब के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। दलित मुक्ति के लिए परंपरागत रुढियों का उल्लंघन करना होगा, यही संदेश यहाँ उपन्यासकार देते हैं। गिरिराज किशोर का 'परिशिष्ट' उपन्यास उन तमाम बातों की अर्थहीनता पर प्रश्न चिह्न लगाता है जिसके आधार पर समाज का एक वर्ग अपने आपको सभ्य और अभिजात समझते हैं। उपन्यास इन सभी मान्यताओं को निराधार और अर्थहीन साबित कर देता है। आइ. आइ. टी जैसे उच्च सतरीय ज़ाती प्राप्त

संस्थाओं में थी ऊँच नीच का भेदभाव कितनी गहरी रूप में जडें जमा चुकी है यह उपन्यास दर्शाता है। इस तरह की संस्थाओं में शासन का डोर उच्च वर्ग के छात्रों के हाथ में ही रहता है। अतः इस दृष्टि से 'परिशिष्ठ' उपन्यास समाज की झूठी मान्यताओं की पोल खोलनेवाला साबित होता है।

जगदीश चन्द्र का 'नरककुंड में बास' दलितों के जीवन संघर्ष की व्यथा कथा प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है। उपन्यासकार दलित न होने पर भी दलितों के प्रति गहरी संवेदना व्यक्त करते हैं। चमडे की कारख्राने में काम करनेवाले, शुचित्वहीन वातावरण में रहकर मारक बीमारियों के शिकार होनेवाले मानुषवर्ग का चित्रण उपन्यास में हुआ है। इन मजदूरों को नंगे हाथों से ही जानवरों के गंदे ख्रालों को साफ करना पडता है, जानवर भी न सूँघनेवाले गंदे पानी को पीना पडता है। उपन्यास में 'काली' नामक पात्र के जीवन संघर्ष को दिख्राया गया है। वास्तव में 'काली' एक प्रतिनिधि पात्र है, करोडों, दमित, उपेक्षित, उत्पीडित, दलित वर्ग का। उसका संघर्ष सिर्फ और सिर्फ मनुष्य के रूप में जीने के अधिकार पाने के लिए है।

शिवमूर्ति का उपन्यास 'तर्पण' दलित जीवन की व्यथा कथा ही नहीं, बल्कि उच्च वर्ग के अत्याचार, अमानवीयता, दमन, शोषण सत्ता एवं धन का गर्व आदि की कहानी भी कहती है। सत्ताधारी, दलितों के प्रति अमानवीय व्यवहार करते हैं। सत्ता के बल पर दूसरों के अधिकार सम्मान को अपने पैरों तले कुचलते हैं। उपर्युक्त सभी बातों का संकेत उपन्यास की प्रत्येक घटना में देख्रने को मिलता है। दलित नारी की सुरक्षा का सवाल भी उपन्यास उठाता है।

क्योंकि उच्च वर्ग द्वारा पीडित होते समय उसकी रक्षा करने के लिए दलित समाज भी असमर्थ हो जाते हैं। उपन्यास की रजपतिया की यही दुःस्थिति है। उपन्यास में दलित जीवन के सभी पहलुओं को उभारने की ईमानदार कोशिश उपन्यासकार के द्वारा हुई है। उनके जीवन की विवशता, निरीहता, अनभिज्ञता आदि दिखाया है। उपन्यास का प्रत्येक संदर्भ दलित जीवन की वास्तविकता का ज्वलंत चित्रण प्रस्तुत करता है।

2.1.2.6 बुजुर्ग पीढी की समस्याओं का चित्रण

चित्रा मुद्गल का 'गिलिगडु' इसी विषय पर आधारित उपन्यास है। उपन्यास का कथानक रिटायर्ड सिविल इजीनियर जसवंत सिंह और रिटायर्ड कर्नल विष्णु नारायण स्वामी के इर्द-गिर्द घूमता है। उपन्यास में वृद्धों की ऐसी एक स्वच्छन्द दुनिया की संकल्पना की गई है, जहाँ वे अपने सपने संजोकर बेफिक्र रहते हैं। पर कभी-कभी प्यार और चैन की तलाश में भटकते हैं। 'अपनी सीमित दुनिया में सिमटकर रहते इनके बच्चे, इनकी स्वच्छन्द दुनिया से अनभिज्ञ हैं। इसलिए ये बूढे स्वतंत्र होते हुए भी 'आउट कास्ट' की तरह जिंदगी बसने के लिए मजबूर है।'[1]

'समय सरगम' में कृष्णा सोबती ने मनुष्य की जिंदगी, उम्र, आकांक्षा और अंत को किसी दार्शनिक रचाव के बिना देखने की कोशिश की है। ईशान

---

[1] डॉ.वी के अब्दुल जलील (सं) - 'समकालीन हिन्दी उपन्यास, समय और संवेदना', पृ.64

और अरण्या के माध्यम से अपने-अपने तरीके के अनुभवों के साथ पके और बूढे हुए दो जिंदगियों की कथा लेखिका कहती है।

2.1.2.7 आज़ाद भारत का चित्रण

अलका सरावगी का उपन्यास 'कोई बात नहीं' आज़ाद भारत की राजनीतिक, सामाजिक यथार्थ से चपेट खाया हुआ सच्चाई की ओर इशारा करते हैं। इसका मुख्य पात्र जातीन दा, आज़ाद भारत की ऐसी पीढी का प्रतिनिधित्व करता है, जो अपने वर्तमान से झुंझला हुआ है। आज़ादी के बाद के भारत की कथा भारतीयों के सपनों की टूटने की कथा है। आज़ादी के बाद धर्मनिरपेक्षता, सर्वहित साधन, सामाजिक कल्याण, एवं स्वराज्य का संकल्प सब कुछ अधूरा ही रह गया। उपन्यासकार के अनुसार इसकी वजह सामंती उपनिवेशी संस्कार का आज़ाद भारत पर सवार होना है। कमलाकांत त्रिपाठी ने अपने 'पाहीघर' उपन्यास में ऐतिहासिक तथ्यों पर सत्ता की खामोशी तोडकर यथार्थ के उद्घाटन करने का प्रयास किया है। उपन्यास इतिहास के गौरवान्वित क्षण को अपने में समेटने के साथ ही साथ स्वतंत्रता संग्राम की असफलता के कारणों को बेपर्द भी करता है।

मंजूर एहतेशाम का उपन्यास 'दास्तान-ए-लापता' मानव संवेदना की विडंबनात्मक कथा है। उपन्यास आज़ादी के पचास-बावन सालों के बाद के विकास और प्रगति की उदास, चिंतित और विक्षुब्ध कर देनेवाली कहानी है, जिसमें जमीर एहमद खान जैसे लोग संतुलन नहीं साध पाते।

गहरी वेदना से भहा हुआ एक व्यंग्य उपन्यास है ज्ञान चतुर्वेदी का 'बारामासी'। आज़ादी के बाद के हाशिए पर जीनेवाले धर्मेन्द्रयुगीन कस्बाई मध्यवर्गीय परिवार का चित्रण उपन्यास में हुआ है।

2.1.2.8 पुराण-इतिहास पर आधारित उपन्यास

असगर वजाहत का 'सात आसमान' धीरे धीरे टूटता बिखरता एक गौरवशाली इतिहास की कहानी है। सामंती वैभववाले एक समाज, अपनी जीवन शैली के कारण किस तरह पतनशीलता का शिकार बन जाते हैं, इसका एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है यह उपन्यास।

रामायण पर आधारित भगवान सिंह का मिथकीय उपन्यास है 'अपने अपने राम'। उपन्यास में लेखक परंपरागत मानस छवियों के साथ छेडछाड करते है। रामकथा का खलनायक रावण है तो, इस उपन्यास में राम और वसिष्ठ को एक-दूसरे के आमने-सामने कर देता है। उपन्यास में इन दोनों के बीच द्वन्द्व दिखाई पडता है। वसिष्ठ की जो सुनिश्चित लोक छवि है, उस मिथ को 'भ्रष्ट' करने का काम उपन्यासकार ने इस उपन्यास में किया है।

2.1.2.9 किसान आन्दोलन का चित्रण

किसान आन्दोलन पर केन्द्रित कमलांकत त्रिपाठी का उपन्यास है 'बेदखल'। उपन्यास तालुकेदारों और जमीनदारों के अत्याचारों और जोतदार किसानों की निस्सहायता और दुख को प्रकट करता है। उपन्यास एक ऐसे इतिहास को भी जन्म देता है जिसे छोटी जात और लगभग पिछडे और दलित

कहे जानेवाले किसान और मजदूरों ने अपने सामूहिक प्रतिवाद और नेतृत्व के बल पर पैदा किया है। किसानों के नेता भी स्वार्थी है, जो किसानों को उनकी दुरवस्था पर छोड देता है। किसानों के नाम पर स्वार्थी पार्टियाँ बनती है, लेकिन वे कुछ करते नहीं है। अतः उपन्यास इस तर्क को प्रभावी ढंग से उठाता है कि "किसानों का आन्दोलन किसानों के दम पर किसानों के पैसों से चलेगा"।

2.1.2.10 उत्तर औपनिवेशन का जीता जागता चित्रण

उत्तर औपनिवेशन से त्रस्त समाज एवं संस्कृति का जीता जागता चित्रण समकालीन उपन्यासकार पेश करते हैं। क्योंकि वर्तमान समाज में जो उच्छृंखलता अर्थ के प्रति अतिलिप्सा, संबन्धों की संवेदनहीनता, भोग के प्रति अनियंत्रित वासना आदि सब कुछ दिखाई पडता है, इन सबकी मूल जडें उत्तर औपनिवेशन के तरह आयातित हो रही पश्चिमी सभ्यता है। अतः संपूर्ण समाज को आंतरिक रूप से खोखला कर रहे उत्तर औपनिवेशन के पाशविक पक्ष का उद्‌घाटन पाठकों के सम्मुख करना वर्तमान समय के सजग लेखकों का कर्तव्य है। इस कर्तव्य को बखूबी निभाने का प्रयास समकालीन उपन्यासकारों की ओर से हुई है। जैसे चित्रा मुद्‌गल का 'एक ज़मीन अपनी', रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानवे' अलका सरावगी का 'कलिकथा वया बाइपास' लता शर्मा का 'सही नाप के जूते' उदय प्रकाश का 'पीली छतरीवाली लडकी' आदि इस तरह के कुछ उपन्यास है, जिस पर विस्तार से अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन के असलियतों से घनिष्ठ रूप में बंधे हुए है समकालीन कथा लेखन-चाहे वह कहानी हो या उपन्यास। समाज के परत-दर-परत को निकटता से देखने, समझने और अपनी रचनाओं में उकेरने की कोशिश समकालीन कथाकारों ने किया है। समकालीन रचनाओं में विषयगत वैविद्य देख सकते हैं, यह उनके अनुभव संसार के विस्तृत होने का परिचायक है। स्त्री, दलित, सांप्रदायिकता, आतंकवाद, नवउपनिवेशवाद, भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारवाद, ग्रामीण, आंचलिक एवं प्रांतीय विशेषताएं, किसान मजदूरों की समस्याएँ भारत विभाजन की त्रासदी, इतिहास, पुराण अपराधीकरण, आर्थिक विसंगतियाँ, निम्न मध्य उच्च वर्ग की समस्याएँ- आदि कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बै, जिन्में समकालीन कथाकारों ने अपनी पहचान न दर्ज किया हो। समकालीन कथा साहित्य जीवन की हर एक करवटों से गुज़रता हुआ, हर यथार्थ और जटिलताओं से पाठक का साक्षात्कार करता हुआ आगे बढता दिखाई देता है।

तीसरा अध्याय

नवउपनिवेशवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट : समकालीन कहानियों में

"यहाँ बिकती है चित्रकार की कलम
मूर्तिकार की मूर्ति
कवि की संवेदना
रंगकर्मो की तुलिका
सब बिकते हैं
जिन्दगी और मौत
जिस्म और खून
धर्म और ईमान"[1]

प्रकाश वैश्य की प्रस्तुत पंक्तियाँ पढने से हमारे मन में आज का विश्व समाज, खासकर तीसरी दुनिया अथवा 'थेर्ड वेल्ड कण्ड्रीस' का रूप उभरकर आ जाती है। यह एक ऐसा समाज है, जो नवऔपनिवेशन से उत्पन्न, बाज़ारीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण, भूमण्डलीकरण के शिकंजे में फंसकर अपनी अस्मिता को ही खो दिया है।

उत्तर औपनिवेशिक युग में मनुष्य की प्राथमिकताओं से लेकर मानवाधिकारों एवं विकास के सभी तत्वों का बाज़ारीकरण हो रहा है। व्यक्ति की सोच, उसके जीने का ढंग-सब कुछ बाज़ार तय करता है। अतः व्यक्ति अपने अस्तित्व से कटकर मात्र एक कठपुतली में परिणत हो रहा है। केवल बाज़ारीकरण से ही नहीं, भूमण्डलीकारण, वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण,

---

[1] साक्षात्कार (पत्रिका), फरवरी 2007, पृ.97

उपभोक्तावाद इन सब से भी समाज को ख़तरा है, जो कि नवऔपनिवेशन के ही भिन्न व्यंजक शब्द है।

उत्तर औपनिवेशिक समस्याएँ बाहर से जितनी सरल दिख्राई देती हैं, उतनी सरल नहीं है। साहित्यकार कभी भी सामाजिक समस्याओं के प्रति लापरवाही नहीं बरतता। अतः इसके दुष्परिणामों के प्रति जन समाज को अगाह करने का दायित्व साहित्यकारों पर हैं। और समकालीन रचनाकारों ने भी इस ज्वलंत समस्या को रचनाओं का विषय बनाकर जनसाधारण को चेताने एवं उनमें जागरूकता भरने की कोशिश की है।

समकालीन कहानीकारों ने नवउपनिवेशन की विभिन्न विभीषिकाओं को कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ये विभीषिकाएँ वहु-आयामी हैं। मानव का अर्थ के प्रति बढती लालसा, निरंतर ह्रास होते जीवन मूल्य, कुंठा, अतृप्ति, अकेलापन, यौन विद्रूपताएँ, संबन्धों में दरार, जीवन में 'काम' अथवा 'सेक्स' की बढती प्रधानता, व्यक्ति का स्वार्थी अथवा आत्मकेन्द्रित हो जाना आदि। इन विभीषिकाओं का चित्रण अपनी कहानियों के ज़रिए रामकुमार वर्मा, गोविन्द मिश्र जैसे प्रौढ एवं प्रतिष्ठित रचनाकारों से लेकर राजकुमार गौतम, पंखुरी सिन्हा, कैलाश बनवासी जैसे नवोदित कहानिकारों तक ने किये हैं। समाज को उत्तर औपनिवेशन के त्रसत परिणामों के प्रति अवगत कराकर समकालीन कहानिकारों ने समाज के प्रति एक निर्णायक भूमिका अदा की है।

समकालीन कहानीकारों में कमल कुमार की एक ख़ास जगह है। जिन्होंने अपनी सजग बहुआयामी जीवन दृष्टि तथा अपने परिवेश को रचनात्मक

अभिव्यक्ति देने के प्रति प्रतिबद्धता के कारण समकालीन रचनाकारों के बीच अपनी एक जगह बनाई है। कमल कुमार की 'क्रमशः' कहानी संग्रह की कहानी है 'मर्सी किलिंग'। पश्चिम में स्वीकारे गए मर्सी किलिंग के लिए भारत में मान्यता प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि भारतीय परंपरा, भारतीय संस्कृति, भारतीय संविधान, भारतीय विधि, कभी किसी के अस्तित्व को मिटाने का नियम नहीं बना सकता। भारतीय कानून के द्वारा मर्सी किलिंग के लिए हरा झंडा न दिखाने के बावजूद भी पश्चिमीकृत भारतीय जन मानस द्वारा इसे हरा झंडा दिखाया गया है। क्योंकि उपनिवेशित जन मानस उन सभी चीज़ों को हरा झंडा दिखा सकते हैं, जो पश्चिम में मान्य है। कहानी में लेखिका, जीने की लालसा रखनेवाले इन्सान को निर्दयता से मारनेवाली पश्चिमी विकृत सभ्यता से प्रभावित एक परिवार का चेहरा प्रस्तुत करती है।

कहानी में जब उषा का पति अरुण का एक दुर्घटना में दाई ओर पैरालाइज़ हो जाता है, तब अपाहिच पति की देखभाल करके उषा को ऊबाहट महसूस होती है। परंपरागत भारतीय नारी का पति के प्रति जो सेवाभाव है, वह अब ऊबाहट में परिणत हो गई है। इसका कारण नव औपनिवेशन से उत्पन्न बाज़ारीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का भारतीय जन मानस पर हावी होना है। क्योंकि आज बाज़ार इतना आकर्षक बन गया है कि उषा पति की दवाई आदि पर ख़र्च किए जानेवाले पैसों से, अपने लिए कॉसमेटिक्स और नए-नए कपडे ख़रीदती है। वह अपने-आपको ज्यादा ख़ूबसूरत दिखाने की कोशिश करती है, और घर से बाहर एक नए जीवन की तलाश करती है। क्योंकि वह

जानती है कि उसके आकर्षण में बहुत सारे लोग है। अतः वह अपने आपको हाशिये पर डालना नहीं चाहती। वह केन्द्र में आना चाहती है।

भारतीय नारी की छवि, पति को परमेश्वर माननेवाली सती सावित्री से लेकर नवऔपनिवेशिक समाज की उषा जैसी नारियों तक आ पहुँची है। जो पति के प्रति कम से कम मानवीय संवेदना तक नहीं रख पाती। पश्चिमी भोगवादी सभ्यता ने भारतीय नारी एवं भारतीय आदर्शों को जडों से काटकर फेंक दिया है, इसका दृष्टांत है कहानी की उषा। अरुण के अपाहिज होते ही वह उसके लिए मात्र एक फालतु एवं उपयोगशून्य 'वस्तु' बन जाता है, जिस पर पैसे खर्च कर वह अपना नुकसान नहीं करना चाहती। पश्चिमी भोगवादी संस्कृति के तहत किस तरह भारतीय नारी की मां, प्रेयसी, पत्नी आदि रूप धूमिल एवं धुंधला होता जा रहा है, कहानी यही बयान करती है।

बाहर की जादुई दुनिया उषा को इस कदर आकर्षित करती है कि वह छुट्टि के दिन भी पति के साथ बिताना पसंद नहीं करती। वह मन-ही-मन अरुण की मृत्यु की भी कामना करती है, अतः वह उसे नींद की गोलियाँ ज्यादा मात्रा में देती है। उषा को लगता है कि अरुण के साथ जीवन बिताकर वह अपने आपको धोखा दे रही है। क्योंकि अब उसका पति न तो उसके अकेलेपन को दूर कर सकता है, और न ही उसकी जरूरतों को पूरा कर सकता है। इसलिए वह सोचती है-"जीवित लाश के साथ जीते-जीते वह जीने का अर्थ भूल गई थी। आज हाड-मांस की ज़रूरतें नुकीली कीलों की तरह उसके दिमाग में

ठुक रही है।"[1] पश्चिमी शरीर केन्द्रित सभ्यता के रंग में रंगकर भारतीय नारी की भी 'आनन्द' की परिभाषा केवल शरीर तक सीमित रहने लगी हैं। केवल भोग ही नहीं, त्याग एवं अपनों के प्रति सेवा भाव भी आत्मा को आनंद के पथ पर ले जाती है- इस तरह के भारतीय मूल्यों को वह भूल चुकी है।

आज व्यक्ति, व्यक्ति नहीं बल्कि मात्र वस्तु बनकर रह गया है। जब तक उसकी उपयोगिता रहती है, उसका स्थायित्व है। और जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है, तब वह बेकार बन जाता है। 'Use and throw' वाली पश्चिमी रीति आज के समाज में, परिवार में तथा व्यक्ति में सर्वत्र देख्र सकते हैं।

कमल कुमार की एक दूसरी कहानी है 'ख्रोख्रल'। जिसमें लेख्रिका ने भारतीय मूल्यों एवं संस्कारों को त्यागकर ख्रोख्रला बन रहे समाज की ओर इशारा किया है। इसके साथ-साथ लेख्रिका ने यह भी दिख्राया है कि इस ख्रोख्रले होते समाज में जो व्यक्ति अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति निष्ठा प्रकट करता है, वह दूसरों के लिए 'पिछडा' बन जाता है। 'ख्रोख्रल' कहानी में दिनेश की पत्नी तथा बुआ माँ की स्थिति कुछ ऐसे ही है।

आज दुनिया सिकुडकर 'विश्वग्राम' अथवा 'ग्लोबल विलेज' बन गयी है। अतः व्यक्ति आज अपने आपको विश्व मानव के रूप में देख्रता है। अपने धर्म, दर्शन, एवं संस्कृति के प्रति उसकी निष्ठा ख्रतम हो चुकी है। ऐसे ही एक परिवार को लेख्रिका ने 'ख्रोख्रल' में उकेरा है। दिनेश अपने महल जैसे घर को

---

[1] कमल कुमार- 'मर्सी किलिंग', 'क्रमशः', पृ.97

भाष्य, उपनिषद, पुराण, गीता, योगा, दर्शन तथा धर्म की पुस्तकों की जिल्दों से सजाता है। क्योंकि दिनेश जैसे उत्तर आधुनिक समाज के व्यक्ति के लिए धर्म और दर्शन की पुस्तकें केवल घर के फरनिरिंग का हिस्सा मात्र है- "दिस वास द पार्ट आफ द फरनिशिंग आफ द हाउस..... जस्ट फार ग्लैमर।"[1] गीता, पुराण एवं धर्म की पुस्तकों को हम जिस आदर एवं भक्तिभाव से देखते हैं, उसका मात्र ग्लैमर की चीज़ बनकर रह जाना, दिनेश की पत्नी की तरह भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान किसी भी व्यक्ति के लिए मान्य नहीं होगा। इसलिए ही उसे अपने घर के चारों ओर खोखला होता महसूस होता है।

आज व्यक्ति जीवन जीता नहीं है, बल्कि एक जश्न के समान मनाता है। और अपने इस उद्धेश्यपूर्ति के लिए वह किसी भी नैतिक या अनैतिक मार्ग से पैसा कमाता है। क्योंकि उसका लक्ष्य मात्र ऐशोआराम की जिंदगी जीना है। और उत्तर आधुनिक समाज के व्यक्ति की खासियत यह है कि वह किसी भी कीमत पर अपनी महत्वाकांक्षाओं को अधूरा नहीं होने देता।

आज व्यक्ति को, उसके पूर्ण रूप में नहीं देखा जाता। बल्कि उसकी आत्मा एवं शरीर को अलग करके ही देखा जाता है। दिनेश के लिए उसकी पत्नी सिर्फ व्यावहारिक जरूरतों की पूर्ति का 'साधन' मात्र है। भीतर ही भीतर सिकुड रही उसकी आत्मा की पुकार को सुननेवाला वहाँ कोई नहीं है। अपने ही घर में उसकी उपेक्षा का कारण संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति उसका लगाव है।

---

[1] कमल कुमार- 'खोखल', 'क्रमशः', पृ.112

क्योंकि दूसरों की दृष्टि में ऐसे लोग युग के अनुकूल न होने के कारण उपयोगहीन है। इसलिए वह स्वयं सोचती है- "वह स्टोर में पडे हुए घर के फालतू कबाड की तरह, अनेकानेक आधुनिक उपकरणों, बिजली के यंत्रों के खाली डिब्बों की तरह थी, ऊपर के कमरे में नितांत अकेली।"[1]

वर्तमान भोगवादी समाज की अमानवीयता एवं रिश्तों के प्रति ठंठेपन का अहसास हमें दिनेश जैसे व्यक्ति से प्राप्त होता है। जब दिनेश की पत्नी पार्टी के दौरान पति को बुआ माँ की मौत का समाचार सुनाती है, तब वह कहता है- "यू जस्ट कीप क्वाइट एंड रिलैक्स। इस वक्त पार्टी का मज़ा खराब न करो। बाद में देखा जाएगा...गो टेक युअर ड्रिंक एंड फारगैट दिस।"[2] अपनी माँ जैसी बुआ की मौत का समाचार सुनने के बावजूद भी मौज के मजे में डूब रहे तथाकथित सभ्य समाज के प्रतिनिध लोगों को देखकर यही प्रतीत होता है कि वे सिर्फ जिंदा लाशें है जो मस्ती के नशे में नाचते चिल्लाते हैं। क्योंकि इस पीढी के पास न मन है और न मानवीय संवेदनाएँ बल्कि अगर कुछ है तो मात्र पेट, जीभ स्वाद एवं लालासाएँ। नव उपनिवेशित समाज के लिए प्रेम, विश्वास-आस्था सभी असभ्य बातें है, और वे अश्लीलता की पराकाष्ठा को सभ्यता समझते हैं।

---

[1] कमल कुमार- 'खोखल', 'क्रमशः', पृ.119

[2] उपर्युक्त, पृ.112

समकालीन रचनाकारों में अपने एक अलग बहचान बना चुके रचनाकार है जितेन्द्र भाटिया। वे उन गिने चुने लेखकों में से हैं, जिन्होंने महानगरीय औद्योगिक एवं व्यावसायिक जीवन को न केवल नज़दीक से देखा है, बल्कि उसकी समूची विसंगतियों एवं निर्ममताओं को पूरी शिद्दत एवं गहराई के साथ अपनी कहानियों में उतारा भी है। उनकी कहानी संग्रह 'सिद्धार्थ का लौटना' में संकलित कहानी है 'सांप, सीढी और सांप'। यह कहानी उत्तर औपनिवेशिक समाज के व्यक्ति की समझौतापरस्त जीवन की ओर इशारा करती है। कहानी का शीर्षक बहुत ही सार्थक एवं प्रतीकात्मक है। यहाँ 'साँप' समस्याओं का प्रतीक है तो 'सीढी' बचाव का। वर्तमान समाज का व्यक्ति कभी भी समस्याओं से उभर नहीं पाता। एक के बाद दूसरी समस्याएं उसे निरंतर ग्रस्त कर लेती है। सीढी के बाद फिर से सांप अथवा समस्या का होना आधुनिक जीवन की विडंबना है।

कहानी में विनी और जयंत अग्रवाल महानगरीय परिवेश में अपनी जिन्दगी रूपी नैया को पार लगाने की जी तोड कोशिश करते हैं। दोनों की नौकरी के बावजूद भी वे अपने आपको 'सेफ' महसूस नहीं करते। इसलिए ही प्रेम विवाह के छः साल पश्चात् भी एक बच्चे के जन्म को लेकर उनमें असमंजस की स्थिति बनी रहती है। आजकल मल्टीनैशनल एवं विदेशी कंपनियों की संख्या हमारे देश में दिन-प्रति-दिन बढते जा रहे हैं। हमारे शिक्षित युवा वर्ग को यहाँ नौकरी तो मिलती है, लेकिन नौकरी से आनंद या तृप्ति नहीं मिलती। क्योंकि ऐसी संस्थाओं का लक्ष्य ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना मात्र रहता है,

और इसके लिए वे कर्मचारियों से दिन रात महनत कराके उनके खून चूसते रहते हैं। ऐसी हालत में स्वाभाविक है कि वे बिना शादी किए युवा-युवतियों को ही अपनी संस्थाओं में प्राथमिकता देता हैं। महानगरीय संस्कृति में तो बच्चों के होने से न तो किसी को नौकरी मिलती है, न रहने के लिए कमरा। इसीलिए उत्तर औपनिवेशिक समाज के महत्वाकाक्षी व्यक्ति को अपनी आर्थिक एवं भौतिक सुख-सुविधाओं के महत्वाकांक्षा की तहत अपनी निजी जिंदगी की सारी आशा आकांक्षाओं की तिलांजली देनी पडती है।

महानगर में मामूली खर्च से जीविका नहीं चल सकती। वहाँ खुशहाल जिन्दगी जीने के सपने की पूर्ति के लिए पति-पत्नी दोनों की कमाई की ज़रूरत होती है। ऐसे में 'प्रेगनन्सी' एवं बच्चे जैसी बात महानगरीय महत्वाकांक्षाओं को ही उलट-पलट कर देती है। कहानी में बिनी और जयंत भी इस बात से मजबूर है। इसीलिए ही विवाह के छः साल पश्चात् एक बच्चे की सख्त ज़रूरत महसूस होने के पश्चात् भी वह अपने बच्चे को 'अबोट' करती है। क्योंकि बच्चे के आने से नौकरी चले जाने की चिंता है तो दूसरी तरफ कमरा खाली करने की समस्या। उत्तर औपनिवेशिक समाज की समझौतापरस्त जिन्दगी को दिखाना ही यहाँ कहानिकार का लक्ष्य है। आज हम जीवन एवं ज़रूरतों के शिकार हो गए है। जिन्दगी का लक्ष्य सिर्फ और सिर्फ पैसा कमाना रह गया है। जिन्दगी की तेज रफतार में विवाह के छः साल बाद भी एक बच्चे को जन्म देने के लिए हिचकती बिनी के द्वारा आज की स्त्रीयों की विवशता की ओर लेखक इशारा करते हैं।

आज के युवा वर्ग के लिए एक बच्चे को जन्म देना भी अपने व्यक्तित्व की कुर्बानी है। क्योंकि बच्चे को जन्म देकर जिन्दगी की दौड में वह पीछे पडना नहीं चाहती। क्योंकि वर्तमान प्रतियोगिता के दौर में प्राइवट कंपनियों से लंबी छुट्टि लेने के पश्चात् वापस काम मिलने की कोई गुंजाइश नहीं होती। ऐसे में किसी स्त्री का माँ बनने के लिए तैयार होना व्यक्तिगत कुर्बानी से कम नहीं है। इसलिए ही जयंत कहता है-"यह मैं ही था, जिसने तय किया था कि हमारे होनेवाले बच्चे का नाम, विनी से मिलता-जुलता ही रखा जाएगा, क्योंकि दरअसल यह बच्चा विनी की व्यक्तिगत कुर्बाना का प्रतीक था।"[1]

उत्तर औपनिवेशिक समाज का महत्वाकांक्षी व्यक्ति धन, शोहरत, रुतबा, आरामदेह जिंदगी सब कुछ चाहता है। लेकिन आगे बढने की उसकी बेचैनी, इच्छा और कडी महनत के बावजूद भी अपनी आकांक्षाओं को समेटने में वह असमर्थ बन जाता हैं। जहाँ बच्चा शादीशुदा लोगों की एक मात्र सपना होता था वहाँ आज उनके महत्वाकांक्षी सपने में बाधा अथवा बोझ बन गया है। अतः जिंदगी को सार्थक बनानेवाले ऐसे छोटे-मोटे सपनों को अपने ही पैरों तले कुचलने के लिए विवश है महानगरीय सभ्यता में जी रहे वर्तमान युवा पीढी।

जितेन्द्र भाटिया की दूसरी कहानी 'धर्म परिवर्तन' असल में किसी धर्म के परिवर्तन की ओर इशारा नहीं करती, बल्कि एक निम्न-मध्यवर्गीय जीवन बितानेवाले व्यक्ति का उच्च वर्गीय खेमे में आ जाने के बाद उसके मानसिक द्वन्द्व

---

[1] जितेन्द्र भाटिया- 'सांप सीटी और सांप', 'सिद्धार्थ का लौटना', पृ.30

की ओर इशारा करती है। क्योंकि जो व्यक्ति मध्यवर्ग से जाकर उच्चवर्गीय जीवन जीता है, वहाँ केवल वर्गीय परिवर्तन ही नहीं होता, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन भी होता है। अतः सतही तौर पर मामूली सा महसूस होने पर भी यह बात जिन्दगी की एक-एक हिस्से को प्रभावित करनेवाली सच्चाई है। वर्तमान समाज की ख़ासियत यह है कि सब लोग उच्च वर्गों जैसी ऐशो-आराम की जिन्दगी चाहते हैं। उसके लिए जी तोड कोशिश करते है। लेकिन उच्चवर्ग के अंग्रेजी परस्त 'हाइ-फाइ' संस्कारों से उनका मानसिक मिलन कभी नहीं हो पाता। कहानी में कथावाचक भी इन्हीं मानसिक तनावों से गुज़रते हुए दिखाई देते हैं।

आज के जीवन का लक्ष्य, चाहे वह जीवन में हो या कैरीयर में, सिर्फ 'प्रोफिट' रह गया है। बिसिनस के सिलसिले में कथावाचक एम.डी. के साथ कलकत्ते से बंबई आता है, तब उसकी पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती है। उनकी कम्पनी के एम.डी एवं मिस्टर चंद्रा के बीच बिसिनस का 'एग्रीमेंट' हो जाता है और इस मौके को 'सेलिब्रेट' करने के लिए पार्टी का इंतज़ाम किया जाता है। लेकिन कथावाचक का मन इन सब पार्टियों में नहीं रमता क्योंकि उच्च वर्ग के इन पार्टियों को वह भली-भांति पहचानता है-"पार्टी यानी सोशल गैदरिंग, जिसमें शराब के नशे की आड लेकर एम.टी की बीवी मिस्टर चंद्रा से बेतकल्लुफ होती चली जाएंगी और रेस्त्रां के कोने में व्हिस्की का ग्लास लिए बैठे

एम.डी उदार भाव से मुस्कराते रहेंगे।"[1] शराफत का मुखौटा ओढे हुए उच्चवर्गीय पाश्चात्य संस्कृति की नकल से कथावाचक ऊब जाता है। अपनी बिसीनस की 'प्रोफिट' के लिए बीवी को भी 'पार्टनर' को सौपनेवाली सभ्यता से कथावाचक घृणा करता है। अतः वह पार्टी में न जाकर उस वक्त को अपने पुराने दोस्तों के साथ पुरानी गलियों में बिताते हैं। अतः उसे महसूस होता है कि जिंदगी में सबकुछ पाने के चक्कर में उसने क्या-क्या खो दिया है।

आज के समाज में लोगों के अंग्रेजी परस्त होते जाने की ओर व्यंग्यात्मक ढंग से इशारा करती है जितेन्द्र भाटिया की 'राजरोग' कहानी। आज हम अपने चारों ओर पाश्चात्य संस्कार से युक्त वातावरण को बनाए हुए है। देश में रहकर भी हम विदेशी होते जा रहे हैं। हम विदेशी चीज़ों पर लट्टू है, विदेशी चाल-ढाल सीखते हैं, विदेशी भाषा जेलते हैं। देश में रहकर भी हम बेगाना होते जा रहे हैं। यहाँ 'राजरोग' कहानी आज के उन कार्यालयों पर व्यंग्य करता है, जहाँ राजभाषा हिन्दी की उन्नति केवल ओकडों में दर्ज है। समाज में सबसे निचले दर्जे से लेकर हर कोई अपने बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम स्कूलों में पढाना चाहते हैं। इस तरह देश भर अंग्रेजी और अंग्रेजियत का आलम है। हिन्दी के प्रति एवं प्रांतीय भाषाओं के प्रति आज लोगों के मन में उपेक्षा भाव है। राजभाषा होने के कारण हिन्दी की उन्नति केवल ओकडों में दर्ज करते हैं। लेकिन किसी को भी हिन्दी के विकास में रुचि नहीं है। कहानी में मिस अलका हिन्दी अधिकारी होने के बावजूद भी हिन्दी के लिए कुछ नहीं करती। जब राजभाषा

---

[1] जितेन्द्र भाटिया- 'धर्म परिवर्तन', 'सिद्धार्थ का लौटना', पृ.49-50.

कार्यान्वयन को देख्रने के लिए मंत्रिमंडल का आगमन होता है तब दो दिन में वह हिन्दी के माहौल को उत्पन्न करती है। हिन्दी में काम करने के लिए जोर देती है। कम्पनी का एम.डी मंत्रि मंडल के स्वागत के लिए हिन्दी भाषण को अंग्रेज़ी में लिख्रकर पढते हैं। हिन्दी को प्रोत्साहन न देकर अंग्रेज़ी को बढावा देनेवाले ऐसे कार्यालय ही आज भारतीय भाषाओं एवं भारतीयता के शत्रु बन बैठे हैं।

जितेन्द्र भाटिया की एक अन्य कहानी 'दो नंबर का दर्जा' एक ऐसी औरत का चित्रण प्रस्तुत करती है, जिसकी पती से ज्यादा तनसवाह वाली नौकरी मिलने पर कायापलट हो जाती है। क्योंकि वर्तमान समाज में पैसा ही सब रिश्तें के केन्द्र में है। कहानी में पति का अनुसरण करनेवाली तथा नौकरानी की गलतियों को नजरअंदाज करनेवाली सुनंदा, एक अच्छी ख्रासी नौकरी मिलते ही पति को टालने तथा नौकरानी को डाँटना शुरू करती है। उत्तर औपनिवेशिक समाज की सच्चाई भी यही है कि व्यक्ति जितना भी नेक और देवता हो, अर्थ और पैसे के शिकंजे में फँसकर वह हैवान बन जाता है। ऐसे में जीवन का लक्ष्य मात्र सुख-सुविधाएं पाना और ऐशो-आराम की जिन्दगी जीना हो जाता हैं। जीवन के अन्य विषयों पर उनका ध्यान नहीं रहता।

नौकरी मिलने पर सुनन्दा भविष्य में मिलनेवाली सुविधाओं के बारे में सोचकर उन्हीं सपनों में लगती है। इतना ही नहीं, उसे घर का सारा सामान फिसूल सा महसूस होना लगता है। और वह अपने घर को ही घटिया समझने लगती है। उसके मन में एक अधिकार भाव जन्म लेने लगता है कि उसका

स्थान घर में पति से भी ज्यादा है, क्योंकि वह पति से भी ज्यादा कमाती है। इसका अहसास कथावाचक को भी होता है, जब वह देखता है कि-"रोज़ की सिकुडकर लेटने की आदत के विपरीत आज वह डबल बेट पर तीन चौथाई हिस्सा घेरकर आराम की नींद सो रही थी।"[1] अर्थात पैसे के आने से व्यक्ति अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने लगता है। अथवा श्रेष्ठता का मानदण्ड वर्तमान समाज में पैसा बन गया है। जो धनी है उसका स्वामित्व दूसरों पर चलता है। यह प्रवृत्ति मात्र 'व्यक्ति' तक सीमित नहीं, समाज एवं राष्ट्र में भी 'स्वामित्व' का मानदण्ड यही है। इसीलिए ही धनी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के शोषण करते हैं और आधिपत्य जमाता है। मगर यह प्रवृत्ति व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

उत्तर औपनिवेशिक समाज में हर कोई पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में है। स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध हर कोई इसके जकड से मुक्त नहीं है। आजकल की महिला संस्थाएं, और स्त्री सशक्तीकरण की नारा लगानेवाली हर एक संस्थाओं की दशा भी इससे भिन्न नहीं है। लेकिन समाज के निम्न तथा मध्यवर्ग में ऐसी स्त्रियाँ अवश्य है, जो सही रूप से स्त्री सशक्तीकरण को सार्थक बनाती है। लेकिन न तो ऐसी स्त्रीयाँ कोई महिला संस्थाओं का सदस्य है, और न ही वे कोई स्त्री सशक्तीकरण का नारा उठाती है। लेकिन विडंबना की बात यह है कि पाश्चात्य सभ्यता में रंगे, मात्र फैशन के बदौलत स्त्री सशक्तीकरण का नारा उठानेवाली नारीयों के लिए ये महनती औरतें केवल घृणा और हँसी का पात्र है।

---

[1] जितेन्द्र भाटिया- 'दो नंबर का दर्जा', 'सिद्धार्थ का लौटना', पृ.77-78.

जितेन्द्र भाटिया की 'रजनीगंधा के फूल' नामक कहानी में कथावाचिका मिस चक्रवर्ती एक कंपनी में टेलिफोन ऑपरेटर का काम करती है। और अपने मां, बहनों और संपूर्ण परिवार का भरण-पोषण करती है। कहानी के ज़रिए भाटियाजी यही बताने की कोशिश कर रहे हैं कि समाज में बहुत सारे निम्न-मध्यवर्गीय औरतें ऐसी है, जो न तो स्त्री सशक्तीकरण का नारा उठाती है, और न ही जुलूस करती है। मगर स्त्री अपने संपूर्ण सशक्त रूप के साथ उन्हीं लोगों में विद्यमान है।

उत्तर औपनिवेशिक समाज की उच्चमध्यवर्गीय स्त्रीयाँ यदि स्त्री सशक्तीकरण का नारा उठाती है तो मात्र अपनी शगल था मनोरंजन की पूर्तो के लिए। पतियों के भारी भरकम तनख्वाहवाली नौकरी के बीच दिन भर की ऊबाहट से मुक्ति पाने के लिए ये औरतें इस तरह की संस्थाओं का सदस्य बन जाती है। कहानी में कथावाचिका बॉस के नवजात बच्चे को देखने के लिए अस्पताल जाती है। वहाँ पर बॉस की पत्नी एवं दूसरे अफसरों की पत्नियाँ उसकी सस्ती साडी और अन्य बातों को लेकर 'कमेन्ड्स' करती है। ये वही औरतें है जो अपने पतियों के पैसों से 'इंडियन वुमैन' पर इंटरनैशनल कन्वेंशन की तैयारी कर रही हैं, जिसका विषय है लिबरेशन, फ्रीडम, एंड इमैंसिपेशन ऑफ वुमन। कन्वेशन के किसी सेंशन में सभापतित्व को प्राप्त करने के लिए वे अपने पतियों से ज्यादा से ज्यादा रुपए दिलाने की कोशिश करते हैं। वैश्वीकरण के इस युग में जीवन को अपनी संपूर्ण विलासिता के साथ भोगने के पक्षघर ये

नारियाँ समाज में उत्कर्ष का मार्ग नहीं बल्कि अपसंस्कृति का मार्ग ही प्रशस्त करेंगी।

जितेन्द्र भाटिया की एक दूसरी कहानी 'सिद्धार्थ का लोटना' शहर की 'हाई-फाई' संस्कृति से ऊबकर गांव जाने की इच्छा मन में संजोकर रखनेवाले एक व्यक्ति की है। गांव में पले बढे कथावाचक के मन में स्कूल टीचरी के अलावा कोई बडी महत्वाकांक्षा नहीं होता। लेकिन उसे नौकरी महानगर के एक बडी कंपनी में मिल जाता है। कथावाचक के नेतृत्व गुण, अंग्रेज़ी में एम.ए, अच्छी इग्लिश, पर्सनालिटि आदि का फायदा किसी भी कारणवश निचले दर्जे के कर्मचारियों को न मिले, इस उद्धेश्य से उसे क्लर्क से असिस्टन्ड पर्सनल मैनेजर बना देता है। एक संपन्न एवं सम्भात युवती से उसकी शादी भी होती है। इस तरह उत्तर औपनिवेशिक समाज में एक व्यक्ति की सफलता के सारे मापदण्डों पर वह खरा उतरता है। क्योंकि उत्तर आधुनिक समाज में चाहे 'जॉब' हो या जिन्दगी 'सैटिस्फैशन' था 'सक्सेसफुल' बनने के मानदण्ड केवल यही है- "इनकम टैक्स और पि.एफ कटने के बाद हर महीने उसके बैंक में जमा हो जानेवाले वे ढाई हज़ार रुपए, जिनके बूते पर उसकी बीवी महीने में दो बार ताज हेल्थ क्लब जाती है? या फिर दफ्तर से कार में लौटते हुए सोसाइटी के गेट पर गोरखे का वह नपा-दुला सलाम, जो हर शाम उसे बिला नगा मिलता था।"[1]

---

[1] जितेन्द्र भाटिया- 'सिद्धार्थ का लौटना', 'सिद्धार्थ का लौटना', पृ.103

वर्तमान उपभोक्तावादी समाज की यही ख़ासियत है। जहाँ व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य जीवन एवं चीज़ों का ज्यादा से ज्यादा उपभोग करना होता है। ज्यादा से ज्यादा उपभोग के लिए ज्यादा से ज्यादा पैसों की ज़रूरत है। और इसके लिए 'जॉब सैटिस्फेक्शन' को भी दरकिनार करते हुए वर्तमान पीढी का पैसों की इस दौड में शामिल होने के बाद इससे मुक्ति पाना असंभव हो जाता है। जैसे कहानी में कथावाचक चाहकर भी अपना गांव वापस नहीं लौट पाता। पाश्चात्य संस्कृति की नकल से बने उच्च संभ्रांत लोगों की फूहड संस्कृति से वह ऊब जरूर जाता हैं, लेकिन उससे नाता तोड नहीं पाता। उन लोगों के घरों में होनेवाली कॉकटेल पार्टियों में भी कथावाचक को ज़रा सी भी दिलचस्पी नहीं होती, क्योंकि-"जिनमें आधे से ज्यादा पुरुष अपनी कमीज़ें उतारकर नाचने लगते थे, और औरतें अपनी लोकट मैक्सीस में फाहशपन की हद तक उतर आती थी...।"[1] अतः आज फैशन, आधुनिकता एवं सभ्यता के नाम पर अपसंस्कृति का बोलबाला हो रहा है। क्योंकि उत्तर औपनिवेशन से उत्पन्न उपभोक्तावादी संस्कृति में जीनेवाले व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य जीवन को अपने 'मैक्सिमम लेवल पर भोगना' मात्र है।

जितेन्द्र भाटियाजी की एक अन्य कहानी है 'ग्लोबलाइज़ेशन'। ग्लोबलाइज़ेशन का दावा है कि पूरी दुनिया सिमटकर एक बन रहे हैं जैसे 'वसुदैव कुटुम्बकम' की भावना है। ग्लोबल विल्लेज की संकल्पना के तहत यह

---

[1] जितेन्द्र भाटिया, 'सिद्धार्थ का लौटना', 'सिद्धार्थ का लौटना', पृ.104

बात कही जाती है कि पूरी दुनिया ही एक 'विलेज' के रूप में सिमट रही हैं। अतः समाज के बीच, राष्ट्रों के बीच जो दूरियाँ है, वह सब मिट रही हैं। देश की सीमाओं को लांघकर लोग एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं। इस संदर्भ में सबसे उल्लेखनीय सवाल यह है कि कौन किसके निकट आ रहा है? विकास किसका हो रहा है? और किस तरह का विकास हो रहा है? असल में विकास तो तमाम मल्टीनैशनल कंपनियों का हो रहा है, उद्योगपतियों का हो रहा है, उच्च वर्ग का हो रहा है। बाकी अस्सी प्रतिशत आबादी अभाव एवं दरिद्रता के घेरे में निरंतर पिसता चला जाता है। भूमण्डलीकरण ने इन लोगों को और भी कंकाल कर दिया है। क्योंकि विदेशों से जब भारी संख्या में चीज़ें आयातित होती हैं, तो देशी संस्थाएं बंद होती हैं। नौकरियों की कमी हो जाती है। और इन मल्टीनैशनल कंपनियों में ऐसे बडे-बडे मशीनों का इस्तेमाल करते हैं कि हज़ार व्यक्तियों का काम एक मशीन के द्वारा किया जाता है। इस कारण बडे से बडे कारखानों में भी दस-पन्द्रह ठेका मज़दूरों से काम चलाया जाता है। अतः इन ठेका मज़दूरों की दर्दनाक ज़िन्दगी का चित्रण जितेन्द्र भाटिया जी इस कहानी में करते हैं। कहानी में यहाँ दर्शाया गया है कि कारखाने के सामने सुबह होते ही ठेका मजदूर अपने परिवार के साथ लाइन में आकर खडे हो जाते हैं। फिर भी बहुत कम लोगों को काम मिलते हैं। पैसे के अभाव में उन्हें एक वक्त की रोटी भी नसीब नहीं होती। उन्हें मिलनेवाले पैसे में भी कटौती करके अपना जेब भरनेवाले अफसरों का भी चित्रण कहानीकार करते हैं। यहाँ कहानीकार यही बताना चाहते हैं कि भूमण्डलीकरण के तहत विकास हो रहा हैं, देश में पैसे आ

रहे हैं, लेकिन वह सब चंद लोगों के पोकट में चला जाता है, बाकी के लोग भूखों मर रहे हैं।

राजकुमार गौतम की 'कब तथा अन्य कहानियाँ' संग्रह की कहानियों में समकालीन मनुष्य के जीवन में बाज़ार की आपाधापी और उसके षडयंत्र के कारण समाज में उत्तरोत्तर बढ रहे भौतिक भोगों के वर्चस्व से जुडी हुई समस्याओं का चित्रण हुआ है। इस संग्रह में प्रकाशित 'कब्र' कहानी उत्तर औपनिवेशिक युग में 'कब्र' में परिणत होनेवाले हर एक घर का दस्तावेज प्रस्तुत करता है। यहाँ 'कब्र' शीर्षक ही प्रतीकात्मक है। क्योंकि आज के घरों में पहले के जैसी चहल-पहल नहीं होता, बल्कि कब्र जैसी नीरवता एवं श्मशान जैसी सन्नाटा ही विद्यमान है। इसका कारण यह है कि आज व्यक्ति रिश्ते-नातों से कटकर अकेले बंद कमरों में जीना अधिक पसंद करते हैं।

राजकुमार गौतम की 'कब्र' कहानी का मूल विषय कुंठा, अकेलापन, यौन, बाज़ारीकरण, एवं सांस्कृतिक विद्रूपताएँ है। 'कब्र' कहानी में नवऔपनिवेशिक समाज की स्त्री के परिवर्तित नए स्वरूप को आंका गया है। 'कब्र' की शैलजा ऐसी एक स्त्री है, जो अर्थ के व्यामोह में, रिश्ते नातों को तोडते में तनिक भी हिचकती नहीं है। वैश्वीकृत समाज में अर्थ के प्रति मानव के बढते जुनून ने समस्त मानवीयता एवं मानवीय संबन्धों को खोखला कर दिया है।

उत्तर औपिवेशिक समाज का व्यक्ति गांव से नगर और नगर से महानगर की ओर प्रस्तान करना चाहता है। गांव के महनती किसान को भी आज अपने लहलहाते खेत की अपेक्षा नगर एवं महानगर की चकाचौंध भरी जिंदगी ही आकर्षित करती है। इसी मानसिकता के कारण ही शादी के बाद शैलजा और रस्तोगी घर और गांव से दूर दिल्ली जैसे महानगर में जिंदगी बसाते हैं। क्योंकि उनके अनुसार "दिल्ली जैसे बडे शहर में रहते हुए सपनों को न केवल छुआ जा सकता है, बल्कि उन्हें जिया और भोगा भी जा सकता है।"[1] वे विवाह के पश्चात् जीवन को आस्वादन के उत्तुंग शिखर पर ले जाना चाहते हैं। क्योंकि भौतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति एक मामूली गांव में नहीं बल्कि दिल्ली जैसे महानगर में ही संभव है।

आज व्यक्ति सीमित होता जा रहा है। हमें अब दूसरों की चिंता नहीं हैं। केवल अपना संसार, अपनी उन्नती, अपनी तरक्की, इस तरह 'स्व' में सीमित होनेवाले व्यक्ति एक जानवर की तरह अपने आपको पालने में लगे हुए हैं। मानव की मानवता और सहज गुणों को विकास के किसी जद्दोजहत् में हमने खो दिया है। शैलजा को विवाह के पश्चात् पति का भरा-पूरा परिवार पसंद नहीं होता। क्योंकि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण, उत्तर आधुनिक समाज के व्यक्ति का है। उसके अनुसार जिंदगी वह है "जहाँ तमाम एशो-आराम हो, खाने को सुस्वाद भोजन हो, सुनने को भीना संगीत हो, निहारने को अलौकिक सौंदर्य हो

---

[1] राजकुमार गौतम, 'कब्र', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.11

और भोगने को एकांतवास हो।"[1] और इन सब सपनों की पूर्ती घर जैसे एक सार्वजनिक क्षेत्र में संभव नहीं है। इसीलिए ही वह महसूस करती है कि "दोनों की कमाई और स्वस्थ काया के बावजूद वे कुंठित और अतृप्त है।"[2] वह कुंठित और अतृप्त इसलिए है, क्योंकि वह परिवार में, घर के सदस्यों के बीच रहती है। और आज व्यक्ति घर जैसे पिंजरे में बंद होना नहीं बल्कि विश्व गगन की उन्मुक्त उडान पसंद करता है। और ऐसा न होने पर वह नकारात्मक विचारों के गिरफत में पड जाता है, जैसे शैलजा।

नव औपनिवेशन से उत्पन्न बाज़ारी संस्कृति की विशेषता यह है कि लोग अपने जीवन को 'शोकेस' के रूप में देखना चाहते हैं। बाज़ार की चकाचौंध, रंग, तडक-थडक, वे अपने जीवन में भी लाने की कोशिश करते हैं। कहानी में रस्तोगी परिवार भी संपूर्ण बाज़ार को खरीदकर घर को भरने में लगे रहते हैं। अंत में "घर मात्र घर न रहकर फर्नीचर हाउस, ओडियो वीडियो शॉप, इंस्टेंट रेस्तरां...और बार में तब्दील हो गया।"[3] वर्तमान समाज का व्यक्ति यह सोचने में असमर्थ है कि यह चकाचौंध और तडक-थडक क्षणभंगुर है। वास्तव में यह चकाचौंध पाश्चात्य संस्कृति की नकल से जन्मे है। पाश्चात्य समाज में जीवन मात्र आस्वादन और भोग पर टिका हुआ है। वहाँ की स्त्री पहले भोग्या होती है, बाद में माँ और बहिन। जैसे नाओमी वुल्फ कहती है कि स्त्री का रूप आज

---

1 राजकुमार गौतम- 'कब्र', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.12

2 उपर्युक्त, पृ.12

3 उपर्युक्त, पृ.14

परंपरागत नारी का नहीं है। उसकी माँ, देवी रूप अब धुमिल हो गया है। आज स्त्री 'पवर' और 'सत्ता' के पीछे लालायित हो रही है। 'कब्र' की मिसेस रस्तोगी, इसका जीवंत उदाहरण है।

आज पाश्चात्य जगत के 'भोग्या' रूप का अनुकरण उत्तर आधुनिक समाज की स्त्रीयाँ अपना रही हैं। शैलजा भी इसी भोग में डूबी हुई है। और इस भोग की पूर्तो के लिए वह पति के साथ अलग दुनिया बसा लेती है। जिसका आधार पश्चिमी फिल्में एवं सेक्स है। "वे पश्चिमी फिल्में देखी और जानवराना अंदाज़ में प्यार किया...उन्होंने जीवन जिया नहीं खाया।"[1] इन सबसे प्राप्त भोगपरक आनंद के नशे में दोनों डूब जाते हैं। यह एक प्रकार की यौन विद्रूपताओं का विकृत स्वरूप है, जिसका प्रभाव परिवार के अन्य सदस्यों पर भी पडना स्वाभाविक है। इस कहानी का यथार्थ भी वही है। कहानी के अंत में शैलजा की बेटी और बेटा उस भोगकेन्द्रित परिवार से प्राप्त संस्कार के फलस्वरूप अपने भाई-बहन के रिश्ते को भूलकर एक-दूसरे को भोगने के लिए तुल जाते हैं। इस दृश्य को जब रस्तोगी अपनी आंखों से देखते हैं, तब हतप्रथ रह जाते हैं। असल में परिवार के इस विकृत माहौल के लिए जिम्मेदार, खुद शैलजा एवं रस्तोगी ही है। भोग की अनियंत्रित दुनिया में डूबते समय अक्सर लोग यह भूल जाते हैं कि इन सबका संतानों पर क्या असर पड सकता है।

---

[1] राजकुमार गौतम- 'कब्र', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.13

राजकुमार गौतम की 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ' संग्रह की दूसरी कहानी है 'इंटिमेट चैनल'। इसमें विज्ञापन की दुनिया तथा भोगवादी संस्कृति मानव को किस कदर अमानवीय बनाती है, और भारतीय संस्कृति को किस तरह रौंदते-कुचलते हैं, इसका दृष्टांत है। हमारे देश में 'इंटिमेट चैनल' जैसे बहुत सारे चैनलों का भरमार है, जो भारतीय संस्कृति को हास्यास्पद बनाने में तुले हुए हैं। कहानी की नायिका मात्रा इंटिमेट चैनल की चुलबुली अदाओंवाली प्रेजेंटर है, जो दो-दो शादियाँ करके, दोनों से छुटकारा पाकर तीसरे के साथ मुक्त देह संबन्ध रखती है।

इस कहानी में लेखक ने प्रेवट चैनलों के भरमार को, उसके फैलाव को, और उसके द्वारा प्रचरित अपसंस्कृति को विस्तार से उकेरा है। आज ऐसे कई चैनल्स है जो लोगों को पदभ्रष्ट करने में अपनी भूमिका निभाते हैं। जो मात्र भोग एवं सेक्स की विभिन्न अवस्थाओं को प्रस्तुत करते हैं। ऐसे ही एक चैनल है इंटिमेट चैनल जो "छोटे परदे पर योग से लेकर भोग और संभोग क्रियाओं का लाइव टेलीकास्ट तक दर्शकों को उपलब्ध कराने का पक्षधर था।"[1]

इस तरह के चैनलों का एकमात्र लक्ष्य यह होता है कि ज्यादा से ज्यादा लोग ऐसे चैनल्स देखें, ताकि उनके सामने विज्ञापनों की होड लग जाऐं। मात्रा, एक ऐसी स्त्री है, जो अर्थ और भोग को जीवन का आधार मानती है। उसके सामने रिश्तों का कोई मूल्य नहीं है। इंटिमेट चैनल में काम करने पर उसे

---

[1] राजकुमार गौतम- 'इंटिमेट चैनल', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.36

पचास हज़ार मासिक आय प्राप्त होती हैं। उस पचास हज़ार का नशा उसके जीवन पर चढ जाती है। चैनल को जन-मन तक पहुँचाने के लिए वह अपने अर्ध नग्न शरीर के उभारों को प्रदर्शित कर, सबके आकर्षण का केन्द्र बनती है। आज भारत में एक व्यक्ति का सौंदर्य उसके शीलवान होने में नहीं मानता। वह 'सेक्सी' और 'वेरी सेक्सी' दिखने में सौंदर्य मानता है। "आज रूप दिखाकर, अदा दिखाकर विज्ञापन करती है, ताकि उद्योगपति का उत्पाद बिके। यह तो एक तरह से पूँजी की तरह रूप का विनियोग है।"[1]

आजकल कोई भी समाचार सुनने के लिए टेलिविज़न खोलता नहीं है। विशेषकर राष्ट्रीय कार्यक्रम तो कोई देखना ही नहीं चाहता। क्योंकि उसमें लोग पूरे कपडों में आते हैं। लेकिन दूसरे प्राइवट चैनलों की स्थिति यह नहीं है। प्राइवट चैनलों में आनेवाले 'आनकरों' के निर्वस्त्र शरीर देखने की लालसा अस्सी साल के वृद्ध में भी है। ऐसे चैनल्स लोगों तक खबर पहुँचाने का साधन मात्र नहीं, बल्कि स्त्रीयों की नग्नता के इश्तिहार करने का साधन भी है।

भोगवादी सभ्यता के प्रचार करनेवाले ऐसे चैनलों का प्रवाह, वास्तव में समाज के सामने एक प्रश्न चिह्न के रूप में खडा है। क्योंकि इसका बुरा असर नई पीढी एवं उभरनेवाले नए बच्चों पर पड सकता है।

आज अर्थ के लिए इन्सान कुछ भी करने को तैयार है। मात्रा भी अर्थ के व्यामोह में ही अपने संस्कारों को भूलकर, पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण

---

[1] साक्षात्कार (पत्रिका), (संपादकीय), दिसंबर -2007

कर उन्मुक्त सेक्स को जीती है। मात्रा के लिए वैवाहित संबन्धों का कोई अहमियत नहीं है। इसीलिए ही वह अपने पूर्व वैवाहिक संबन्धों को नकारकर केवल शारीरिक सुख्र के लिए किसी तीसरे से संबन्ध जोडती है। नवऔपनिवेशित समाज की विशेषता हमेशा नएपन की तलाश है। संबन्धों में भी वे नएपन की ख्रोज करते हैं। इसी कारण पुराने रिश्तों को जडों से काटकर नए रिश्तों की ख्रोज में नई पीढी भटक रहे हैं। इसमें, स्त्रीयाँ भी पीछे नहीं है, जैसे 'इंटिमेट चैनल' की मात्रा।

मात्रा के लिए संवेदनात्मक संबन्धों का कोई मूल्य नहीं है। पिता की मृत्यु को भी, बडी आसानी से, बिना किसी संवेदनात्मक परिवर्तन के साथ वह स्वीकार करती है। इसीलिए ही पिता की मृत्यु का समाचार, बिना विचलित हुए, वह ख्रुद चैनल में पढती है और उसके तुरंत बाद गणेशन का हमबिस्तर होने के लिए तैयार होती है। और उसे उकसाती है। यहाँ मात्रा जैसी स्त्रीयाँ उत्तर आधुनिक समाज में परिवार के विख्रंडित होने का मुख्य कारण बनती है।

राजकुमार गौतम की 'यात्रा की महायात्रा' नामक कहानी समय की अनवरत् यात्रा को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करती है। समय की यात्रा कभी न रुकनेवाली है, और इस यात्रा के बीच उसने बहुत सारे जीवन स्थितियों से होकर गुज़री है। वर्तमान बाज़ार तंत्र के ज़माने में पहुँचकर 'यात्रा' का स्वरूप ही धूमिल हो गया है। अब 'यात्रा', यात्रा न रहकर एकांत में जीवन जीने एवं चीज़ों को भेजने ख्ररीदने की एक आकर्षक दुनिया बन गई है। यात्राएँ हमेशा ही मानव को नए-नए अनुभव प्रदान करती है। गांधिजी जैसे महात्माओं के

जीवन में भी इस तरह की यात्राओं का महत्व कम नहीं है। क्योंकि यात्रा से अनवरत् अनुभव एवं नई-नई सीखें मिलती है। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में यात्रा का अर्थ एवं स्वरूप ही बदल गया है। आज यात्राएँ हमें एक-दूसरे से मिलने जुडने का अवसर नहीं देती, बल्कि एकांत में, अपने आप में सीमित रहना सिखाती है। आजकल बसों में हम अपने पास बैठे हमसफर से भी बात नहीं करते, बल्कि बस में चालू तेज गति के संगीतों या फिल्मों में खो जाते हैं। क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक सभ्यता मानव को मानव से जोडना नहीं सिखाता, बल्कि एक-दूसरे से नाता तोडना सिखाते हैं।

जीवन की हर एक यात्रा को बहुत संजीदगी के साथ महसूस करनेवाला कथावाचक वर्तमान समय में यात्रा की बदली हुई स्थिति को देखकर दुखी है। क्योंकि आज लोग यात्रा के दौरान, नए-नए जगहों को, मार्ग के विशालकाय पेड-पौधों को, नदियों को और तमाम दृश्यों को देखने के अनुभव एवं आनंद से वंचित हो रहे हैं। लोग, अब खुले बसों या ट्रेनों में यात्रा करना नहीं चाहते, बल्कि चारों ओर से बंद, वातानुकूलित बसों में यात्रा करना पसंद करते हैं। वहाँ से हमें यात्रा का सुख नहीं, बल्कि बन्द कमरों में बैठकर फिल्म देखने का सुख ही प्राप्त हो सकता है।

यात्रा के दौरान व्यक्ति को उसकी निजी दुनिया से, व्यक्तिगत समस्याओं, अपनों से काट दिया जाता है। और मुसाफिरों के सामने एक भिन्न आकर्षक दुनिया प्रस्तुत की जाती है। इस कश्मकश में अपने गंतव्य को ही कभी-कभी वे भूल जाते हैं। यात्रा के इस बदलते स्वरूप के प्रति नाराज़गी व्यक्त करते हुए

कथावाचक कहता है- "मेरी झुंझलाहट की तुम्हें परवाह कहाँ थी! तुम्हारे बदन को गद्दीदार सीटों से तोपा जा रहा था। धूप से तुम्हारा रंग सांवला न पड जाए, इसके लिए आकर्षक परदे ताने जा रहे थे। पंखे और ए.सी चलाकर तुम्हारी दुनिया को रोमांटिक बनाया जा रहा था।"[1]

अपने प्रियजनों से विदा लेकर जानेवाले व्यक्ति के मन में आज विरह की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि यात्रा आरंभ करते ही विज्ञान एवं तकनीकी आविष्कारों के द्वारा उसकी स्मृतियों पर कब्जा किया जाता है और अतीत से काटकर उसे अलग कर दिया जाता है। अतः व्यक्ति चाहकर भी अपनी भावनाओं के गिरफत में नहीं पड सकता। क्योंकि वर्तमान परिस्थितियाँ व्यक्ति को अपने अतीत से, अपनी स्मृतियों से, प्रियजनों की यादों से कोसों दूर ले जाती है। वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में कुछ भी टिकाऊ नहीं है। वहाँ जीवन का मतलब केवल भोगना है, उसके आगे कुछ नहीं। बाज़ार का विकास भी इसलिए इतनी तेज गति से हो रही है कि व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा वस्तुओं को खरीदें और ज्यादा से ज्यादा वस्तुओं को भोगें। अब मात्र इस 'भोगने' को ही व्यक्ति अपने जीवन की सार्थकता मान रखा है। सुबह से लेकर रात तक, उठते, बैठते, यात्रा करते एवं सोते समय भी वह जीवन को पूरी रिद्धत के साथ भोगना चाहता है। लेकिन उसे यह आभास नहीं हो रहा है कि इस 'भोगने' के चक्कर में वह जिंदगी की तमाम अहसासों एवं अनुभूतियों को धीरे-धीरे खो रहे हैं।

---

[1] राजकुमार गौतम- 'यात्रा की महायात्रा', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.74

नवऔपनिवेशिक बाज़ारी संस्कृति ने मानव को मानव से अलग कर, उसे केवल आत्मकेन्द्रित जानवर बना दिया है। मानव की सामाजिकता आज नष्ट हो रही है। आज व्यक्ति सिर्फ अपनी दुनिया में मस्त है। जहाँ उसे बाहर से किसी की भी आपाधापी पसंद नहीं है। आज व्यक्ति अपने घर के भीतर ही इतनी सुख-सुविधाएँ जुहाता है कि, घर के बंद कमरों में, वह जीवन की सार्थकता तलाशता है। इसीलिए बाहरी दुनिया से, यहाँ तक पडोसियों से भी उसका नाता-रिश्ता नहीं के बराबर है। अब यात्रा के दौरान भी इतनी सुविधाएँ उपलब्ध हैं कि उसे अपने हमसफरों की ओर देखने की भी सुध नहीं रहती या फिर वह चाहता ही नहीं कि वह अपने हमसफरों के साथ विचार विनिमय करें।

अब यात्रा ज्ञानवर्धन का साधन न रहकर समय और पैसा खानेवाला राक्षस बन गया है। कभी-कभी सुविधा के नाम पर यात्री को असुविधाएं सहनी पडती है और उन सबकेलिए पैसे भी खोने पडते हैं। और कभी मनोरंजन के रूप में तमाम अश्लील एवं आतंकित दृश्य भी सहने पडते हैं, और इसके चलते कभी-कभी यात्री अपने गंतव्य स्थान तक भूल जाते हैं। व्यक्ति को आज मजबूरन उपभोक्ता बनाया जा रहा है। किसी को यह सोचने की भी फुरसत नहीं कि यात्रियों के बीच ऐसा भी व्यक्ति होगा जो किसी शवयात्रा में भाग लेकर आ रहा है या असफल होकर लौट रहा है या फिर अपने परिजनों से विदा लेकर कहीं जा रहा है। लेकिन यह सब सोचने का अवकाश अब किसी के पास नहीं है। क्योंकि उन्हें मतलब सिर्फ और सिर्फ अपने ग्राहकों से है, व्यक्ति से नहीं।

भविष्य में यात्रा के स्वरूप में होनेवाले परिवर्तनों की ओर व्यंग्यात्मक रूप से इंगित करते हुए कथावाचक कहता है कि दो वक्त की रोटी के लिए तरसनेवाले किसान-मजदूरों की दशा यात्रा के दौरान क्या हो सकता है- "व्योम बालाओं की तर्प पर, बस, रेलगाडी में भी सुन्दरियाँ आएँगी, जो मुस्कुराकर इन नसीब फूटे ग्राहकों के खाने-पीने का ध्यान रखेंगी...खूबसूरत बालाओं, बिंदास फिल्मों, स्वादिष्ट खानों, उत्तेजक गानों, और वातानुकूलित बस के आंगनों से बाहर निकलकर प्रेमचन्द का कोई डोरी जब अपने गांव पहुँचेगा तो उसे कितना खराब लगेगा।"[1] यही इस देश की वास्तविकता है। देश के आधे से ज्यादा आबादी अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए तरसती है तो उसे इनकी क्या ज़रूरत है कि यात्रा के दौरान आधा घंटा उन्हें उन तमाम ऐशोआरामों की झलक दिखलाएँ जो उसके नसीब में नहीं है और कभी होगा भी नहीं। उस गरीब से भी, ज्यादा पैसे वसूलकर विक्रेता उनकी मजबूरियों को कुरेदते हैं। कथावाचक का मानना है कि भविष्य में गर्भदान से लेकर पिंडदान तक सारी चीज़ें, यहाँ तक 'हणिमूण' भी यात्रा के दौरान होने की संभावना है। अंत में कथावाचक यात्रा के इस मृत होते स्वरूप को पिंडदान देने की चाहत के साथ बताते हैं कि- "मैं तुम्हारा पिंडदान बोधगया में करूँगा, और वहाँ तक पैदल जाऊँगा ताकि इस दौरान मैं तुम्हें वास्तविक रुप में एक बार पुनः जी सकूँ।"[2]

---

[1] राजकुमार गौतम- 'यात्रा की महायात्रा', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.75

[2] उपर्युक्त, पृ.76

राजकुमार गौतम की अन्य कहानी 'लेखन का कृषि दर्शन' उन तमाम व्यवस्थाओं पर व्यंग्य कसता है, जो कृषि दर्शन के बदौलत चलता है। यहाँ 'कृषि दर्शन' से तात्पर्य 'बिसिनस माइंड' से है। यानी किसी भी क्षेत्र में तरक्की करने के लिए आज व्यक्ति को ईमानदारी की नहीं बल्कि कृषि दर्शन की ज़रूरत है। वर्तमान समाज में सफलता का यही मूल तंत्र है। इस दुनिया ने लेखन की दुनिया को भी कब्ज कर लिया है। और यही कारण है कि यहाँ श्रेष्ठ लेखकों से ज्यादा पोपुलर लोगों की मांग है।

कथावाचक एक साहित्यकार है। एक श्रेष्ठ लेखक होने के नाते, उनका लक्ष्य है कि वे अपने साहित्य के द्वारा सक्रिय जीवन के लिए अनिवार्य तीन सूत्रवाक्यों- समय, सेहत और साहित्य को जन साधारण तक पहूँचाएं। लेकिन उनकी सबसे बडी समस्या उनका आर्थिक अभाव है। समाज के नित परिवर्तित तेवर को देखकर वे हैरान है कि समाज में एक ओर लोग एक ही दिन में करोडपति या लखपती बन जाते हैं, तो दूसरी ओर लोग बाज़ार को खरीदकर घर लाने में जुडे हुए हैं। विज्ञापनों में दिखाई देनेवाली दुनिया का वास्तविक जीवन के साथ दूर तक का संबन्ध भी न होने पर भी लोग आँखें मूँदकर उन सब पर विश्वास करते हैं। और अपने अभावों के बीच उस आकर्षक दुनिया का स्वप्न संजोए रहता है। इस संबन्ध में लेखक सोचता है कि- "कुछ उत्पादों ने बुरी आदतों से बर्बाद युवकों को साक्षात् कामदेवत्व सौंपा तो कुछ ने काली महँदी से बाल रचवाकर अनेक को आंटी-अंकल के अपमानजनक संबोधन से बचाया। कुछ ने मासूम युवक के बदन से पसीने की बदबू को हटाकर सुन्दर

लडकी को राजी कराया तो कुछ ने दांत साफ करके बेरोजगारों को नौकरी दिलाई। उम्दा साबुन, तेल, चड्ठी और पाउडर आदि की उपलब्धता की वजह से शिशुओं की ऐश हो गई तो वे सब इस पुण्य देश में जन्म लेने लगे। वैल्थ और हैल्थ की जुगलबंदी में सारा देश क्लब बनकर थिरकने लगा।"[1] जाहिर है कि व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक की जिंदगी का लगाम विज्ञापनों के हाथ में हैं। इन सबसे मुक्त होकर, अपने तरीके से जिंदगी जीने का अधिकार मानव के हाथों से छीन लिया गया है। उत्तर औपनिवेशन के तहत आयातित इस रहस्यमयी बाज़ारी संस्कृति की तूफानी जंजाल में फंसकर मानव एक उपभोक्ता के आगे अपने व्यक्तित्व के पहचान को ही खो दिया है। ऐसे में उनके पास न तो साहित्य पढने का और न ही मानवीयता पर विचार करने का समय बचा है।

कहानी का कथावाचक, जो साहित्यकार है, समाज के इस धुंधले रूप से बहुत दुखी है। लेकिन उनकी पत्नी को न पति के बिगडने स्वास्न्य की चिंता है, और न उनके खाना न खाने की फिकर। क्योंकि वह दूरदर्शन पर दिखाए जा रहे टॉप टेन फिल्मी गीतों के आनंद लेने में मस्त है। समाज एवं घर के ऊलजलूल वातावरण के बीच पिसकर कथावाचक आई.सी.यू में अडमिट हो जाते हैं। वर्तमान बाज़ारीकृत समाज में जीने का तरीका, उन्हें उनका मित्र तुमुकजी समझा देते हैं। आजकल लेखन का भी बाज़ारीकरण हो गया है। लेखक भी बिकते हैं। इस तरह बिकने के लिए तैयार लेखक ही आर्थिक दृष्टि से सक्षम हो सकता है और समाज में ऊँचे से उँचे पदों को ग्रहण कर सकता है। इसलिए

---

[1] राजकुमार गौतम- 'लेखन का कृषि दर्शन', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.86

तुमकजी कथावाचक को समझाते हैं कि वे मशहूर लाल पानभाई तंबाकूवाले की आत्मकथा लिखने का प्रस्ताव स्वीकार करें, क्योंकि ऐसा काम करने से कथावाचक भी रातोरात मालामाल हो सकते हैं। और ऐसा करने से उनकी पत्रिका के भी वे संपादक बन सकते हैं। लेखन के क्षेत्र में भी लोगों की संस्कारहीनता एवं चालाकीपन की ओर इशारा है कहानी में। लोग किस तरह गैर कानूनी तरीकों से पैसा कमाते हैं, और अपनी प्रसिद्धि एवं नाम के प्रचार के लिए अपनी आत्मकथा पैसा देकर दूसरे श्रेष्ठ लेखकों से लिखवाते हैं। इस बाज़ारवादी समाज में लेखन का क्षेत्र भी भ्रष्ट एवं बिकाऊ बन गया है, इसका दृष्टांत है कहानी।

राजकुमार गौतम की ही एक अन्य कहानी 'किताब में शिष्टाचार' का कथावाचक भी एक साहित्यकार है, जिन्हें वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति एवं बाज़ारवाद से बेहद चिढ है। संपूर्ण समाज भ्रष्टाचार, अनाचार एवं दुराचार के गिरफत में है। समाज के इन हालतों से दुखी सिर्फ एक साहित्यकार ही हो सकता है, क्योंकि आज मानवीयता का अहसास कहीं बचा हुआ है, तो वह साहित्याकारों में है। कहानी में कथावाचक आदर्श जीवन की तलाश करते हैं, लेकिन हर कहीं उच्छृंखलता, अपसंस्कृति का बोलबाला दिखाई देता है। जब कथावाचक विश्वसुन्दरी प्रतियोगित देखता है तो उन्हें लगता है कि सवालों के जवाब के रूप में जो भी बातें ये सुन्दरियाँ बताती है, केवल फूहड एवं हास्यास्पद है। प्रतियोगिता जीतने पर शोषितों-पीडितों की सेवा करने की झूठी दावा देनेवाली इन विश्वसुन्दरियों को, वास्तव में प्रतियोगिता जीतने का लाभ तब

मिलता है, जब वह फिल्मों तथा विज्ञापनों में अभिनय करके खूब पैसा कमाती है। इसलिए कथावाचक व्यग्यात्मक ढंग से कहता है कि-"विश्वसुन्दरी का ताज इस बार किसी अपनी देश कन्या को न मिला। मिलता तो कितना अच्छा रहता। वह बेचारी तब कितना काम देश के लिए कर डालती। अंधों-अपाहिजों की सेवा करती, बेसहारा वृद्धों को सहारा देती, फिल्मी नायिका बनकर अपनी सलोनी देह को दर्शकों की आंखों में परोस देती और खतरनाक रोग एड्स के बारे में जन-जागरण का अभियान चलाती, कितना तो काम रह गया मात्र इस एक चूक से।"[1]

उसी तरह साधु-संत, चिकित्सक जैसे समाज के हर एक क्षेत्र से जुडे हुए लोग किस तरह बाज़ारीकरण के चपेट में पहुँचकर भ्रष्ट हुए है, कहानी में कथावाचक इसका भी बयान करते हैं। जीवन में आसक्ति को त्यागकर अनासक्त रहने की प्रेरणा, समाज को जिन साधु सन्यासियों से मिलनी चाहिए, वे भी आज भोगपरक जीवन व्यतीत करने लगे हैं। ज़ाहिर है कि उपभोक्तावादी सभ्यता के चपेट से समाज का कोई भी वर्ग बच नहीं पाया है। वातानुकूलित वाहनों में साधुओं का यात्रा करना इसी बात का दृष्टांत है।

आजकल के फिल्मों में जो नायिकाएँ अभिनय करती हैं, वे बाज़ारतंत्र को भली-भाँति पहचाननेवाली नायिकाएँ है। फिल्मों में निर्वस्त्र होकर वह पैसा तो ऐंठती ही है, साथ ही अपनी व्यक्तिगत जिंदगी का सार्वजनिक उद्घाटन करके किस तरह फिल्मी जगत के लोगों के द्वारा उसका इस्तेमाल किया गया है और

---

[1] राजकुमार गौतम- 'किताब में शिष्टाचार', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.90

किन-किन मुश्किल परिस्थितियों से होकर उसे गुज़रना पड रहा है आदि का बयान करके वह पाठकों या दर्शकों की सहानुभूति तो अर्जित करती ही है, साथ ही साथ इस सार्वजनिक उद्घाटन की कीमत वह लाखों या करोडों में वसूलती भी है। जीवन के हर एक क्षेत्र में, संसार के कोने-कोने पर इस बाज़ारतंत्र की गिरफत को देखकर परेशान कथावाचक जीवन के आदर्श रूप को देखना चाहता है। लेकिन वास्तविक जीवन में हर कहीं उन्हें आदर्शवादिता का अभाव महसूस होता है और आदर्शपरक जीवन को देखने के लिए वे साहित्य और किताबों में डूब जाते हैं।

कथावाचक का मित्र तुमुकजी के माध्यम से लेखक यही दिखाना चाहते हैं कि लेखन का क्षेत्र भी अपसंस्कृति से मुक्त नहीं है। आज लोग कला के नाम पर अश्लीलता दिखाते हैं, चाहें फिल्म हो या लेखन हमारे समाज में अब ऐसी चीज़ों की ही मांग है। आज सभ्यता के नाम पर ऐसी फिल्में आने लगी हैं कि आधे से ज्यादा फिल्म में भडकीले गीत, बलात्कार, मारपीठ, दिखाने के बाद अंत में यह दिखाना कि यह सब बातें गलत है, यहाँ सभ्यता का दर्शन नहीं बल्कि अश्लीलता का चित्रण ही मिलता है। ऐसी फिल्मों में चित्रित अश्लीलताओं को देखने के लिए ही लोग फिल्महॉल में जाते हैं, न कि उसमें दिखानेवाली अंतिम सद्संदेश के सुनने के लिए। अतः आजकल ऐसी लेखन की मांग है-जिस पर इस तरह की भडकीले फिल्में बना सकें, या सीरियल बना सकें। तुमुकजी इस संबन्ध में कथावाचक से कहते हैं क- "किताब में कुछ वैसा मसाला डालने का, जैसा कि आजकल के टी.वी. सीरियल में। हर औरत का

लफडा दूसरे से। दूसरे का लफडा पहली से। बदला और भावुकता के बीच दारू और सिगरेट। आकांक्षा और चाहत के एवरेस्ट शिखर से चीखते, आत्महत्याकर्मियों से लेकर सेक्स-वर्करों तक के तर्क...गंदे आदमी और औरत की गंदी कहानियाँ। इन्हीं के बीच से आएगा कोई आधुनिक महाकाव्य।"[1] यानी ऐसे लोग जीवन के हर क्षेत्र को अश्लीलताओं से भरना चाहते हैं। क्योंकि वर्तमान भोगवादी संस्कृति से जन्मे नई पीढी अश्लीलता को ही देखना, सुनना और भोगना चाहते हैं।

राजकुमार गौतम की 'उन्नीस-बीस का फरक' कहानी के द्वारा कहानीकार यही दिखाने की कोशिश करते हैं कि उत्तर आधुनिक समाज में 'खून की कमाई, की बात किसी पुराने मुहावरे के समान मैले एवं अर्थहीन हो गए हैं। वर्तमान समाज में रातों रात मालामाल हो जाने के बहुत से ऐसे मार्ग उपलब्ध है कि, इसके फलास्वरूप नई पीढी उच्छृंखल होते जा रही हैं, उनका पैसों के प्रति कद्र नष्ट हो रहा है और उपभोक्ता संस्कृति की बेतहाशा वृद्धि हो रही है।

आजकल रिएलिटि शोज़ की बढोत्तरी इस कदर हो रही है कि नई पीढी इसे ही एक नौकरी की तरह समझने लगे हैं। कुछ दिनों के अंदर ही लोग करोडपति या लखपति बन जाते हैं कि महनत करके पैसा कमाने की इच्छा नई पीढी में नहीं के बराबर हो जाती हैं।

---

[1] राजकुमार गौतम- 'किताब में शिष्टाचार', 'कब्र तथा अन्य कहानियाँ', पृ.93

'उन्नीस-बीस का फरक' कहानी में बाबू रामकिशोर अडतीस साल के सर्विस के बाद सरकारी क्लर्क की नौकरी से सेवानिवृत्त होते हैं। अपने लंबे सर्विस के बाद उन्हें कुल मिलाकर तीन लाख उन्नीस हज़ार का चैक मिल जाता है। इन्हीं पैसों से वे अपनी बाकी के जिंदगी गुज़ारने तथा, अपने नालायक बेटों की जिंदगी संवारने का सपना देखते हैं। लेकिन घर आने पर उन्हें पता चलता है कि कामचलाऊ शिक्षा के बावजूद भी आवारा धूम रहे उनके बेटे ने 'कौन बनेगा करोडपति' प्रतियोगिता में भाग लेकर तीन लाख बीस हज़ार रूपये जीते हैं। और बेटा यह घोषित करता हैं कि उसे भविष्य में कोई नौकरी करना नहीं है, बल्कि इस तरह के कॉम्पटीशन में भाग लेना ही उसका इरादा है। अपने बेटे की सफलता में फूला न समा रही पत्नि से कथावाचक कहता है कि उन्हें भी एक चेक मिला है और उनके एवं विपिन के चेक में केवल उन्नीस-बीस का ही फरक है। उन पैसों की फरक चाहे घरवालों को मामूली-सा महसूस हुआ हो, लेकिन उनमें जमीन-आसमान का फरक है। क्योंकि जिंदगी भर सरकारी सेवा करके, अन्त में जो राशि मिल जाती है, उस महनत की कमाई को व्यक्ति, ईश्वर के समान पूजते हैं और उसका पाई-पाई सोच समझकर खर्च करता है। लेकिन आजकल के टेलिविज़न चैनलों में जो रियलिटि शोज़ एवं इनामी प्रतियोगिताओं की भरमार है, इन सबमें भाग लेकर दो मिनट में व्यक्ति जब लाखों रूपये कमा सकते हैं, ऐसे में पैसे के लिए जिन्दगी भर महनत करने के लिए नई पीढी तैयार नहीं होती। यह एक गलत संस्कृति को जन्म देता है। पलक झपकते ही लाखों रुपए कमानेवाले व्यक्ति के मन में पैसों के प्रति आदर भाव नहीं होगा, और ऐसे

में पैसों के ख़र्च में असावधाती का होना भी स्वाभाविक है। इसी कारण उपभोक्ता वर्ग की भी दिन-ब-दिन बढोत्तरी हो रही है। और हमारी संस्कृति उपभोक्ता संस्कृति में परिणत हो रही है। आजकल लोग मात्र ऐसी चीज़ों को नहीं ख़रीदता जिनकी उन्हें ज़रूरत है। बल्कि शौक के कारण या समाज में अपना ऊँचापन दिख्राने के लिए भी उन सब चीज़ों को ख़रीदता है, जिनकी जरूरत उन्हें जीवन में एक बार भी नहीं होती। आज की 'मॉल संस्कृति' की भी ख़ासियत यही है कि वह उपभोक्ता के मन में चीज़ों के प्रति आकर्षण एवं लालच उत्पन्न करती है। दो मिनट में बिना किसी महनत के लख्रपति बन जानेवाले-नई पीढी, बिना किसी सोच के ऐसी चीज़ों को ख़रीदता है, क्योंकि पैसों का मुल्य उनके लिए अनजान बात है।

राजकुमार गौतम की एक अन्य कहानी 'बाज़ार में प्रेरणा बहन' में लेख्रक यही बताना चाहते हैं कि वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति के केन्द्र में नवयुवक एवं युवतियाँ है, जो ख़ूबसूरत मुस्कान और अपनी अदाओं से ग्राहक को उपभोक्ता बनने के लिए विवश करता है। इसलिए ही हर संस्थाओं में, हर विपणन केन्द्रों में और यहाँ तक कि हर दुकानों में भी आज सुन्दर युवक-युवतियों की जरूरत है। क्योंकि आज का बाज़ार-तंत्र चीज़ों की गुणवत्ता से ज्यादा बेचनेवाले की सुन्दरता को ज्यादा महत्व देता है। उपभोक्ताओं को 'पटाने' का यह तंत्र आज हर कहीं इस्तेमाल होता है। 'बाज़ार में प्रेरणा बहन' नामक कहानी में प्रेरणा ईस्ट एंड गैस सर्विस में काम करनेवाली एक युवती है। प्रेरणा की सुरीली आवाज़ सुनने के लिए ग्राहक हमेशा किसी न किसी बहाने

उसके ऑफिस में फोन करता है। इसके पीछे पुरुषों की मानसिकता एवं इस्तेमाल की राजनीति से प्रेरणा वाकिफ है। इसके प्रति वह कोई एतराज़ नहीं जता सकती, क्योंकि कंपनि का मालिक प्रेरणा जैसी सुन्दर युवतियों को नौकरी पर इसलिए रखता है, ताकि उनके व्यापार में बढोत्तरी हो। लेकिन एक बार फोन पर प्रेरणा मैडम की जगह प्रेरणा बहन सुनकर अवाक् रह जाती है, उस आदर्श पुरुष की मानसिकता के प्रति वह कद्र महसूस करती है। लेकिन प्रेरणा इस बात से अनजान रहती कि वहीं भी इस इस्तेमाल की राजनीति का दूसरा पक्ष हैं। क्योंकि फोन के उस तरफ जो युवक था, वह कोई ग्राहक नहीं बल्कि प्रेरणा की ही तरह एक कुशल व्यवसायी युवक था। उसका भी काम यहीं था कि उसका एवं उसके संस्था के प्रति लोगों के मन में आकर्षण एवं लगाव उत्पन्न करें।

उदय प्रकाश के द्वारा लिखी गई एक विख्यात एवं बहुचर्चित कहानी है 'पॉल गोमरा का स्कूटर'। जीवन के हर क्षेत्र में आधुनिक बनने की जुनून एवं पश्चिमीकरण के नकल की चाहत ने आधुनिक मानव को कहाँ तक हास्यास्पद बनाया है, यही कहना कहानीकार का उद्धेश्य है। वर्तमान भारतीय समाज इतना गिर गया है कि वह अपनी संस्कृति, अपने रीति-रिवाज़, अपनी भाषा और यहाँ तक कि अपने नाम से भी लजाने लगे हैं। इसका दृष्टांत है, कहानी में राम गोपाल सक्सेना का चरित्र। राम गोपाल सक्सेना, उत्तर प्रदेश के गाजियाबाद में रहनेवाला, एक अविज्ञात एवं बहिष्कृत कवि है। एक राष्ट्रीय दैनिक में काम करनेवाला सक्सेना मध्यवर्गीय व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। वैश्वीकरण से

आयातित पश्चिमी सभ्यता के बेशरम नकल करने की प्रवृत्ति किस तरह भारतीय मध्यवर्ग पर हावी हो चुका है, इसका दृष्टांत है यहाँ राम गोपाल सक्सेना का चरित। उक्त कहानी में राम गोपाल सक्सेना अपने इस घिसे-पिटे नाम के पिछडेपन को दूर करने एवं 'मॉडर्न' बनकर अंग्रेज़ी नामों की बराबरी करने के लिए अपने नाम को तोड-मरोडकर 'पॉल गोमरा' कर देता है। "राम गोपाल सक्सेना को अपना नाम प्रेमचन्द, लल्लू लाल, सदल मिश्र, नवजादिक लाल, हज़ारी प्रसाद, करोडीमल, कबीरदास, केदारनाथ, सदासुख्रलाल जैसा पिछडा दकियानुस और निचले दर्जे का लगने लगा था। ऐसे नाम दिल्ली के सफाई कर्मचारियों, ठेले रेहडीवालों और कुली कबाडियों के होते थे।"[1]

अपने नाम के पीछे छिपे हुए पिछडेपन को, अथवा अपनी सच्चाई को वर्तमान भारतीय मध्यवर्ग छिपाना चाहते हैं। क्योंकि हर कोई इस चकाचौंध के युग में ग्लैमर और आकर्षण से भरपूर रहना चाहते हैं। इसीलिए अभावों से भरी जिन्दगी जीने के बावजूद भी वे बाहरी तौर पर बाज़ार के लिए अनुकूल जीवन बिताने और उसके केन्द्र में पहुँचने की नाकामयाब कोशिश में लगे रहते हैं।

राम गोपाल का पॉल गोमरा में परिवर्तन मध्यवर्ग का आधुनिकता के प्रति ललक को दर्शाती है। पॉल गोमरा नाम स्वीकार कर बाहरी तौर पर तो वह आधुनिक बन ही जाता है, लेकिन उसके भीतर छिपे हुए राम गोपाल के असली

---

[1] उदय प्रकाश- 'पॉल गोमरा का स्कूटर', 'पॉल गोमरा का स्कूटर', पृ.43

व्यक्तित्व को वह कभी बदल नहीं पाता है। और यही कारण है कि वर्तमान समाज की गतिशीलता को वह कभी समझ नहीं पाता है। इतिहास का अपार ज्ञान होने के बावजूद भी आधुनिक समाज को, आधुनिक समाज में निरंतर हो रहे परिवर्तन को, परिवर्तनशील वर्तमान समाज की तेज सफतार को वह आत्मसात करने में असफल रह जाता है। इसका कारण यह है कि वर्तमान 'Use and throw away' का नारा उठानेवाले समाज में केवल चीज़ें ही 'डिस्पोसिबल' नहीं है, बल्कि पुरे समाज एवं संस्कृति का 'स्वत्व' ही 'डिस्पोसिबल' बन गया है। यहाँ संस्कृति, सभ्यता, आचार, विचार, फैशन, रिलेशन आदि सब कुछ पलक झपकते ही बदल जाते हैं। जब वर्तमान समाज की कोई भी चीज़ टिकाऊ नहीं है तो, राम गोपाल जैसे केवल बाहर से आधुनिक दिखने के प्रयास करनेवाले एक पिछडे हुए मध्यवर्गीय व्यक्ति कैसे वर्तमान समाज की तेज रफतार को पकड सकता है। यह केवल राम गोपाल की स्थिति मात्र नहीं है। भारत में बहुत से ऐसे राम गोपाल हैं, जो अंग्रेज़ी का चार शब्द सीखकर, अपने बाहरी व्यक्तित्व को पश्चिमानुकूल करने के बावजूद भी अपने भीतरी व्यक्तित्व को बदलने में नाकामयाब रहते हैं।

समकालीन बनने के लिए पॉल गोमरा का दूसरा निर्णय था एक स्कूटर खरीदने का। स्कूटर खरीदकर वह समकालीन समाज में 'फिट' व्यक्ति बनना चाहता है और इसके साथ तकनीक एवं विज्ञान के अभूतपूर्व परिवर्तन में हिस्सेदार बनना चाहता है। लेकिन विडंबना की बात यह है कि स्कूटर खरीदने के बावजूद भी वह जिंदगी भर स्कूटर चलाना नहीं सीख पाता है।

अतः स्पष्ट है कि राम गोपाल के जैसे पिछडे हुए निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने लाख कोशिशों के बावजूद भी न तो आधुनिक बन पाता है और न ही वर्तमान समाज को समझ पाता है। क्योंकि वर्तमान समाज बहुत ही क्लिष्ट एवं ऊलजलूल है। बाज़ार एवं विज्ञापन का प्रभाव समाज में इतना है कि लोग रातों रात मालामाल हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों पर से लोगों का विश्वास उड गया है लेकिन लोग धीरे धीरे अंधविश्वासी बनते जा रहे हैं। समाज में अब हर चीज़ों का विकल्प बाज़ार बन गया है। राम गोपाल वर्तमान समाज के इस पट परिवर्तन को देखकर आश्चर्य चकित है। जैसे गंगाराम हॉस्पिटल के सफाई कर्मचारी की सत्रह साल की बेटी ब्लेड के विज्ञापन में अपने नंगे शरीर का प्रदर्शन करके मालामाल हो जाती है और उसी तरह एक निम्न-मध्यवर्गीय स्कूल टीचर भी बियर के विज्ञापन में अपने अर्धनग्न शरीर का प्रदर्शन करके लाखों रूपए कमाती है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि विज्ञापन चाहे ब्लेड का हो या बियर का, सबसे अनिवार्य बात स्त्री के नग्न शरीर का होना है। इसके बिना वर्तमान समाज में न तो विज्ञापन चलता है, और न ही माल बिकता है। इसलिए चाहे स्त्री हो या पुरुष, अनिवार्य शर्त यह है कि उसे बाज़ार में फिट होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं हो पाता है तो वह वर्तमान भारतीय समाज एवं परिवार के लिए अवांछनीय बन जाता है। "शहर, गांव, कस्बे बडी तेजी से बाज़ार में बदल रहे थे। हर घर दुकान में तब्दील हो रहा था। बाप अपने बेटे को इसलिए घर से निकालकर भगा रहा था, कि वह बाज़ार में कहीं फिट नहीं बैठ रहा था। पत्नियाँ अपने पतियों को छोड छोडकर भाग रही थी, क्योंकि

बाज़ार में उनके पतियों की कोई ख़ास माँग नहीं थी। औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ का महान चकाचक युग आ गया था।"[1]

नवऔपनिवेशन का असर भारत में ख़ास तौर पर दो तरीकों से होता है। एक तो मानसिक गुलामी की बात है, तो दूसरी आर्थिका कहानी के ज़रिए लेखक विदेशों के आर्थिक तंत्र के बारे में फेंटसीनुमा शैली में बताते हैं कि भारत के मंत्रीगण विदेशों के सभी अनुबंधों पर बिना सोचे विचारे हस्ताक्षर करते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के नेतागण ही भारत के टुकडे-टुकडे करके विदेशी हाथों में सौंपने लगते हैं। और ऐसे में विदेशी उद्योगों, विदेशी कंपनियों एवं विदेशी माल का निर्बाध आयात भारत में होने लगता है। अतः नव औपनिवेशन के कारण भारत अन्तर्राष्ट्रीय अर्थतंत्र का एक उभरता हुआ खुला माल गोदाम और विशाल उपभोक्ता बाज़ार बनता जा रहा है। अतः यहाँ पर हर एक व्यक्ति का अहमियत मात्र एक उपभोक्ता के रूप में है। इसीलिए ही अब हमारे माँ-बहनों पर दिन-दहाडे होनेवाले अत्याचार या फिर खुले आम हो रहे खूनखराबे भारतवासियों के लिए सिर्फ एक निहायत फटीचर सूचनाएँ मात्र बन गई हैं। उनके लिए अब सबसे महत्वपूर्ण सुचनाएँ यह है कि भारत की किस लडकी ने, मिस वर्ल्ड या मिस यूनिवर्स का ताज जीता है। भारतीय जन मानस में हुए इस बदलाव का कारण भूमण्डलीकृत सभ्यता का असर है। इस नई पनपती सभ्यता के केन्द्र में मनुष्य नहीं, बल्कि 'व्यवस्था और सत्ता' यानी

---

[1] उदय प्रकाश- 'पॉल गोमरा का स्कूटर', 'पॉल गोमरा का स्कूटर', पृ.37

'सिस्टम एण्ड पवर' है। अब यथार्थ का अस्तित्व मिट रहा है। और यथार्थ के स्थान पर मात्र सूचनाएँ रह गई है।

समकालीन कहानिकारों में कैलाश बनवासी एक ऐसे कहानिकार हैं, जिनकी कहानियाँ हमारे आस-पास घटनेवाली घटनाओं पर आधारित है। बनवासीजी की 'बाज़ार में रामधन' कहानी संग्रह में बाज़ारीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति की त्रासदी और नियति से जूझने वाले आम आदमी की कहानियाँ दर्ज हैं।

बनवासीजी की 'प्रतीक्षा में' कहानी में जीवन की तेज रफतार एवं उपभोक्तावादी सभ्यता के तहत उजडते परिवार का चित्रण है। इसमें बी.एल. मण्डावी, जो एक सरकारी कर्मचारी है, वह अपनी व्यस्तताओं के कारण परिवार तथा परिवेश से छूटता जाता है। प्रस्तुत कहानी में टी.वी जैसे आधुनिक दृश्य माध्यमों के कारण टीले पड रहे पारिवारिक संबन्धों का चित्रण हुआ है। टेलिविज़न आज हर घर का एक अविभाज्य हिस्सा बन गया है। "जो सबसे ज्यादा बोलता है, हर रंग और भाषा में बोलता है, पूरा परिवार इसके करिश्माई आकर्षण से बंधा रहता है।"[1] अतः इसके अभाव में घर शून्य बन जाता है।

इन दृश्य माध्यमों के कारण आज परिवार के सदस्यों को आपस में मिलने के लिए भी समय नहीं मिलता। इस कारण आज परिवार में सदस्यों के बीच का आपसी संबन्ध नाज़ुक होता जा रहा है।

---

[1] कैलाश बनवासी- 'प्रतीक्षा में', 'बाज़ार में रामधन', पृ.22

रिश्तों का अहसास मण्डावी को तब होता है, जब ट्रेन में ऑफिस जाते वक्त उसकी मुलाकात एक गांव से आए बुढे-बेटी से होता है। देहातों में पीढियों के बीच के मजबूत संबन्धों का अहसास मण्डावी को तब होता है। लेकिन उत्तर औपनिवेशन से ग्रस्त महानगरीय सभ्यता में कोई भी रिश्ता इस तरह मजबूत नहीं हो सकता। क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक संस्कृति में रंगे लोग आत्मसीमित एवं स्वार्थी है। यहाँ किसी के पास भी दूसरों की चिंता करने के लिए समय नहीं है। इतना ही नहीं हम बाज़ार एवं इलक्ट्रोणिक माध्यमों के भी लालची होते जा रहे हैं। और इन सब की प्राप्ती के लिए अर्थ एक ज़रुरी चीज़ है। इसके लिए व्यक्ति दिन-रात महनत करता है। इसके बीच परिवार के साथ हँसी-मजाक या प्यार करना तक वे भूल जाते हैं। इसीलिए ही ट्रेन में ताश खेलनेवालों को देखकर मण्डावी को हैरानी होती है कि उन्हें हर रोज़ खेलने के लिए समय कहाँ से मिलता है।

देहाती पिता-पुत्री के प्यार को देखकर मण्डावी अभिभूत हो जाते हैं। उनके रिश्ते में प्यार का गहरी, मीठी, सहज अन्तर्धारा बहती है, लेकिन सारी सुविधाओं से संपन्न अपने परिवार में प्रेम की इस अजस्र धारा का अभाव उन्हें महसूस होता है। वह सोचता है-"उनके यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। निचाह सूखा है। लम्बा, फैला हुआ मरुस्थल है, जहाँ कोई मीठी धारा नहीं है, केवल जरूरत के कैक्टस उगे है-कॉटेवार।"[1] क्योंकि मण्डावी के साथ बच्चों का संबन्ध

---

[1] कैलाश बनवासी- 'प्रतीक्षा में', 'बाज़ार में रामधन', पृ.27

केवल स्कूल फीस भरने के लिए पैसे देने या फिर नए कपडे ख़रीदकर देने में सीमित है।

लेकिन अंत में मण्डावी जब अपनी फालतू रुटीन जैसी जिन्दगी को बदलना चाहता है, घर को ऑफिस नहीं, सही मायनों में घर बनाना चाहता है तो पाता है कि घर के सारे सदस्य टी.वी की ओर आकृष्ट है। परिवारवाले टी.वी के कार्यक्रम में इतने मग्न है कि ऑफिस से थक कर आए पति अथवा पिता की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। वहाँ मण्डावी की कटु उपेक्षा होती है। क्योंकि घर के लोग, घर में होते हुए भी वहाँ नहीं है। वे टी.वी में दिखाई जा रही उस भिन्न दुनिया में थे, जो ख़ूब स्वस्थ, ख़ूब नाज़ुक, बहुत कीमती, रंगीन, ख़ुशबुदार एवं जादुई है। अतः प्रस्तुत कहानी में एक आम आदमी के सुनहरे सपनों को तितर-बितर करनेवाली वर्तमान, इलक्ट्रोणिक संस्कृति का अनावरण किया गया है।

कैलाश बनवासी की एक अन्य कहानी 'प्रक्रिया' में भ्रष्ट इंजिनीयरों और डॉक्टरों की सृष्टि करनेवाली सामाजिक संरचना का पर्दाफाश हुआ है।

आज के औपनिवेशिक युग में मानव का लक्ष्य मात्र पैसा कमाना है। अतः वर्तमान शिक्षा जगत पर इसका क्या असर पड सकता है, यही कहानी का विषय है। कहानी में लेखक, विजय तथा अरविंद एक ही कक्षा में पढते हैं, और दोस्त है। अरविंद तेज और बुद्धिमान है। वह मात्र पुस्तकों से रिश्ता बनानेवालों में से है। अतः उसका समाज से कोई सरोकार नहीं है। कहानीकार हमारे मन में ऐसा प्रश्न उत्पन्न करते हैं कि ऐसी शिक्षा से क्या लाभ है, जो युवा

पीढी को समाज से काटकर अलग कर देता है। "हमें पता नहीं चलता था कि उत्तरी भारत में भूकम्प में हज़ारों मारे गए...हाँ हमें जरूर यह पता रहता कि पिछले साल मध्य प्रदेश में किसने टोप किया था।"[1] कहानी के ये पात्र वर्तमान समाज के युवा वर्ग का प्रतिनिधत्व करता है, जिनका समाज के साथ कोई संबन्ध नहीं है।

इस पीढी के लिए शिक्षा का अर्थ ज्ञानार्जन नहीं है। बल्कि भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ती का उपाय मात्र है। इसलिए पढाई से ज्यादा उनका मन हर वक्त उन सुख-सुविधाओं की कल्पना में भटक जाता है। जिनको भविष्य में उन्हें प्राप्त करना होता है- "पढाई के साथ कई चीज़ें हमारी कल्पना में उडती रहती। पद, रुतबा, शोहरत, बैगला, मोटर-गाडी और किसी हीरोइन के माफिक ख़ूबसूरत बीवी जो हमेशा मुस्कुराती रहती।"[2] यहाँ कहानिकार ने बाज़ार के प्रति युवा वर्ग के बढते आकर्षण की ओर इशारा किया है।

बाज़ार की एक कूटनीति होती है। आज बच्चे बाज़ार की राजनीति का पहला पाठ अपने शैक्षिक काल में ही सीखते हैं। क्योंकि आज विद्यार्थियों के बीच एक अजब प्रतिद्वन्द्विता का आलम है, जो उसे स्वार्थी एवं आत्मसीमित बनाता है। "हम अपनी पढाई एवं तैयारी दूसरों से छिपाते ताकि वह आगे न बढ पाये। ऐसे में स्वाभाविक था हम आपस में झूठ बोलने लगते हैं। हमारी

---

[1] कैलाश बनवासी- 'प्रक्रिया', 'बाज़ार में रामधन', पृ.85

[2] उपर्युक्त, पृ.85

दोस्ती इतनी कमीनी थी, जो हमें एक दूसरे के पास आने से रोकती थी। हमें लगता यह दुराव की कूटनीति हमारे आगे बढने की जरूरी शर्त है।"[1] अतः आज के बच्चों के मन में ऐसा एक विश्वास जमकर बैठने लगा कि आगे बढने के लिए सहपाठियों से अलग होकर सीमित होना पडेगा। ऐसे में ये विद्यार्थीगण भविष्य में समाज के कर्णधार बनेंगे, तब उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता नहीं के बराबर होगी। और वह किसी भी कीमत पर समाज का शोषण करके खुद का स्वार्थ सिद्ध करेगा, जैसा कि कहानी में अरविंद।

कहानी में, अरविंद तेज छात्र है, लेकिन इंजिनीयरिंग की परीक्षा पास न होने पर अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है। वह अपनी जिन्दगी में पुस्तकों के अलावा किसी के साथ भी संबन्ध नहीं रखता। शिक्षा के प्रति उसका दृष्टिकोण मात्र भौतिक सुख-सुविधाएँ और अच्छी नौकरी प्राप्त करने तक ही सीमित है। अंत में नगर निगम के एक ऊँचे ओहदे पर अरविंद की नियुक्ति होती है।

लेकिन अंत में जब कथावाचक अपने एक मित्र की जरूरत के लिए अरविंद के पास जाता है, तब वह दस्तखत करने के लिए चार सौ रूपए रिश्वत मांगता है। यह इस बात का दृष्टांत है कि अरविंद जैसा छात्र एक भ्रष्ट लंबी प्रक्रिया से गुजरते हुए अंत में भ्रष्ट बन जाता है। कथावाचक कहता है-"मुझे लगा, अरविंद समय और सामाजिक संरचना का एक बिलकुल सही उत्पाद है, जैसा कि रसायन शास्त्र में होता है। पदार्थ ताप-दाब की निश्चित प्रक्रियाओं से

---

[1] कैलाश बनवासी- 'प्रक्रिया', 'बाज़ार में रामधन', पृ.86

गुजरने के बाद नया किंतु निर्धारित पदार्थ ही बनता है, कुछ दूसरा नहीं बनता।"[1] भ्रष्ट एवं स्वार्थपूर्ण लंबी प्रक्रिया से गुजरकर पद प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सहजतः भ्रष्ट एवं स्वार्थी बन जाता है। यह निर्विवाद है कि अद्ययनकाल में स्वार्थान्ध होकर समाज से मुँह मोडनेवाला व्यक्ति भविष्य में किसी भी उच्च पद पर नियुक्त होने पर भी समाज से मुँह मोडेगा। अथवा उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता नहीं के बराबर होगी। कहानी की परम चिंतनीय ध्यातव्य है- "इस बहाव में हमें इस बात का तनिक भी अहसास नहीं था कि हम कैसे विशिष्ट बनने के फेर में धीरे-धीरे अपने समय और समाज से कटते जा रहे हैं। एक सुखद भविष्य की कामना में अपने वर्तमान और जीवन है से कट रहे हैं।"[2] यह मात्र कहानी की ही नहीं, बल्कि संपूर्ण समाज की सच्चाई है।

कैलाश बनवासी की 'बाज़ार में रामधन' कहानी संग्रह में संकलित कहानी है 'एक गांव फुलझर' कहानी में फुलझर नामक गांव उन तमाम भारतीय गांवों का प्रतिनिधित्व करता है जो उदारीकरण, प्राइवाटाइज़ेशन एवं औद्योगीकरण के चपेट में नष्ट-भ्रष्ट एवं ध्वस्त हुए हैं। देश के नगर एवं महानगर तो पहले ही इन सबके शिकंजे में था, छोटे-छोटे गांव भी अब धीरे-धीरे इन सबके चपेट में आने लगो हैं। कहानी के फुलझर गांव में जहाँ हर समय फूल झडता रहता है, वहाँ प्लास्टिक की चीजें बनानेवाली एक कंपनी का निर्माण होने लगता है। फैक्टरी के ज़मीन केलिए वहाँ के निवासियों को यह कहकर घर

---

[1] कैलाश बनवासी- 'प्रक्रिया', 'बाज़ार में रामधन', पृ.88

[2] उपर्युक्त, पृ.85

खाली करवाता है कि उनके बेटे-बेटियों को नौकरी मिल जाएंगे। लेकिन जिस कंपनी का सारा काम बडे-बडे इंपोर्टेड मशीन कर रहे हो ऐसे में ग्राम वासियों को कैसे काम मिल सकता है यह समझने में ग्रामीण जनता असमर्थ हो जाते हैं। इसका खुलासा देशमुख, गुरुजी से करता है-"ये हाथी है हाथी। खाने के दांत और दिखने के और। गुप्ता को अपना बिसनेस करना है, लाभ ही लाभ कमाना है। प्राइवेट कम्पनी तो कम से कम वर्कर रखती है मुनाफा ज्यादा कमाती है। देख लेना ये इंपोर्टेड मशीनें लगवाएगा जिससे कम से कम लोगों की ज़रूरत हो।"[1]

भारत की जनता दिन-ब-दिन बेरोज़गार होते जा रहे हैं। ज्यादा से ज्यादा विदेशी कंपनियाँ भारत में जडें जमा रही हैं। उसी अनुपात में देशी उद्योग-धन्धे नष्ट हो रहे हैं। और भारतीयों से यह बताया जाता है कि भारत एक सुदृढ शक्तिशाली संपन्न राष्ट्र के रूप में उभर रहे हैं। असल में अपने ऊपर बढते विदेशी कर्जों के बोझ को अनदेखा करके हमारे विकसित होने का नारा हम लगा रहे हैं।

कहानी में एक ऐसा पात्र भी है जो उत्तर औपनिवेशन के दुष्परिणामों के प्रति थोडा बहुत अवगत है। इसीलिए ही मशीनों की जगह गांव के गरीब मजदूरों को काम पर लगाने की बात वे करते हैं। लेकिन उन्हें इतना ही जवाब मिलता है कि- "आगे देखिए क्या क्या होनेवाला है इस देश का। ऐसे ऐसे

---

[1] कैलाश बनवासी- 'एक गांव फुलझर', 'बाज़ार में रामधन', पृ.115

कानून पास हो रहे हैं कि बेरोज़गारी और बढेगी। प्राइवेटाइज़ेशन बढाया जा रहा है, छँटनी की जा रही है। देशी उद्योग-धन्धों का भट्ठा बैठ जाएगा...।"[1]

कहानी के अंत में गुरुजी के स्वप्न के माध्यम से कहानीकार गांव की, एवं आम जनता की अंधकारमय भविष्य की ओर फैंटसीनुमा शैली में इशारा करते हैं कि इस तरह के बडे-बडे फैक्टरियों से उत्पन्न कूडे एवं प्रदूषित वातावरण में जीना गांव के आम व्यक्ति के लिए दूभर हो जाएगा। और ऐसी परिस्थितियों में वह गांव से भागकर नगर या महानगर में भी नहीं बस पाएगा क्योंकि भविष्य में नगर भव्य एवं ग्लैमरयुक्त बाज़ार में परिणत हो जाएगा। और उस सभ्य समाज में आम व्यक्ति अपने आपको एक आवारा जानवर के समान ही महसूस कर पाएगा। इस कहानी के जरिए कहानीकार आनेवाली विडंबना की ओर पाठकों को अगाह करने का कार्य किया है।

चन्द्रकान्ता की 'अब्बू ने कहा था' संग्रह में संकलित कहानी 'इस दौड में कहानी' पूर्णतः इस दौड की कहानी है, क्योंकि आज का मानव किस तरह उत्तर औपनिवेशिक संस्कृति को आत्मसात् करके अपने परिवार को ही अपने विकास का शत्रु मानता है, कहानी इसी बात का दृष्टांत है।

वर्तमान समाज के व्यक्ति के लिए जीवन में सफलता का मतलब पैसा एवं ऊँचे से उँचा पद प्राप्त करना होता है। और ऐसा न होने पर वह मानसिक तनाव का शिकार हो जाता है। कहानी का मुख्य पात्र नितिन भी ऐसे ही

---

[1] कैलाश बनवासी- 'एक गांव फुलझर', 'बाज़ार में रामधन', पृ.119

मानसिक तनाव का शिकार हो जाता है और अपना पराजय तथा नाकामी का जिम्मेदार पत्नी शिवि को मानता है। उत्तर आधुनिक समाज का व्यक्ति भौतिक सुखों को इकट्टा करने में जमीन-आसमान एक करते हैं। इस बीच उसे न तो परिवार की चिंता होती है, न पत्नि की और न बच्चे की। केवल अपनी सफलता से मतलब रखकर आत्म केन्द्रित हो जानेवाले ऐसे लोग वर्तमान परिस्थितियों की ही उपज है।

उत्तर औपनिवेशिक युग में व्यक्ति संबन्धों को भी तराजू से तौलते हैं। वह किसी भी तरह की यादों को, भावनाओं को अहसासों को साथ लेकर चलना नहीं चाहता। क्योंकि उनके अनुसार जिन्दगी में पीछे मुडकर देखना, पत्थर होना होता है। पीछे मुडकर देखने से वह भावनाओं तथा संबन्धों के घेरे में गिर जाएंगे और उनके पैरों में कर्तव्य, आदर्श, स्नेह परिवार जैसे सर्प बँधे जाएंगे। जिससे उन्हें जीवन में छुटकारा कभी नहीं मिलेगा। इस कारण नितिन विवाह तो करता है, पर अच्छा पति नहीं बन पाता, पिता बनता है, लेकिन आदर्श पिता का पद ग्रहण नहीं कर पाता। परिवार के बीच रहकर भी परिवार को पूरी तरह से नहीं अपना पाता। यही आज का ग्लोबल समाज है जहाँ परिवार, पत्नी, बेटा सब मात्र शब्द की पूर्ती का साधन है, जीवन में इन सबका कोई महत्व नहीं है।

कहानी का दूसरा पात्र शिवि का भाई भी उत्तर आधुनिक समाज के व्यक्ति का दृष्टांत है। जो डाक्टर होने के बावजूद भी मानवीयता से कोसों दूर रहता है। वह डाक्टर बनकर अपने गांव में इलाज करना नहीं चाहता। क्योंकि उसके

लिए डाक्टरी का मतलब सेवा नहीं है। इसलिए वह कहता है-"गांव? वहाँ क्या फ्यूचर है मेरा? विदेशों से ढेरों डिग्रियाँ लेकर आया हुँ, वहाँ इनका क्या करूँगा।"[1] यहाँ शिवि का भाई वर्तमान उपभोक्तावादी समाज का उपज है। क्योंकि उसके लिए मरीज भी उपभोक्ता है। इसलिए वह गांव में रहना नहीं, शहर जाना चाहता है। क्योंकि वहाँ ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाया जा सकता है।

हिन्दी कथा साहित्य की बहुचर्चित लेखिका चन्द्रकान्ता की 'अब्बू ने कहा था' संग्रह की कहानी है 'रात में सागर'। भारतीय परिवार व्यवस्था में बुजुर्गों का जो खास महत्व है, वह उत्तर औपनिवेशिक समाज एवं मानसिकता के बीच किस तरह चकनाचूर हो रहा है, इस बात का दृष्टांत है कहानी। उत्तर आधुनिक समाज के लिए बुजुर्ग, घर की शोभा नहीं बल्कि बोझ बन गया है। अपनी माता-पिता को अनाथालयों में या नर्सिंग-होम में डालकर वर्तमान पीढी अपने सारे दायित्वों से मुक्त हो जाता है। जीवन के अंतिम पडाव में पहुँचे हुए माता-पिता को, जब अपने परिवार की एवं बेटे-बेटियों की निकटता की जरूरत है, तब उन्हें नर्सिंग होम में डालकर क्या हम उनके प्रति न्याय कर रहे हैं, यह वर्तमान परिस्थितियों में उभरनेवाला एक महत्वपूर्ण सवाल है। लेकिन वर्तमान पीढी जिंदगी की भाग-दौड में इतना व्यस्त रहते हैं कि माता-पिता रूपी बोझ को वे ढोना नहीं चाहते। 'रात में सागर' कहानी में माँ को अपनी ज़मीन एवं देश से कटकर सिंगापुर के एक नर्सिंग होम में रहना पडता है। वृद्धावस्था में

---

[1] चन्द्रकान्ता- 'इस दौड में कहानी', 'अब्बू ने कहा था', पृ.68

अजनबी लोगों, एवं अजनबी भाषा के बीच विदेशी रहन-सहन में जिन्दगी गुजारनी पडती है। ऐसे माहौल में माँ की स्थिति भीड में खोये निस्सहाय बच्चे के समान हो जाती है। लेकिन मात्र सुख-सुविधाओं को जीवन का लक्ष्य माननेवाले नई पीढी उनके भीतरी व्यथाओं को समझने में असमर्थ है। इसलिए ही बहु प्रेया कहती है- "हम तो संतुष्ट है कि माँ को अंतिम पडाव पर मन मुताबिक इलाज, सेवा और सविधाएं मिली। चौबीस घंटे नर्सों और डॉक्टरों के नियमित चेक अप्स। घर में यह सब मुमकिन कहाँ होता।"[1] यहाँ प्रेया का विचार नई पीढी के सोच का प्रतिनिधत्व करता है। क्योंकि घर के वातावरण में रहने और विदेश में किन्हीं अनजान लोगों के बीच रहने का फरक उत्तर आधुनिक सभ्यता में जीनेवाले युवा पीढी के लिए अनजान है।

भोगवादी संस्कृति में जीनेवाले युवपीढी के लिए मन एवं आत्मीय निकटता जैसी बातों कोई मायने नहीं रखती। वृद्धावस्था जैसी निस्सहाय स्थिति को समझने का न तो उन में तत्परता है न क्षमता। इसीलिए ही वे विदेशों के रिकवरी सेंटरों में मिलनेवाली सुख-सुविधाओं को देखकर माँ की खुशहाल जिंदगी की कल्पना करते हैं। सुविधाओं के नाम पर माता-पिता को वनवास देनेवाले नई पीढी केवल मामूली खिलौनों के रूप में वृद्ध माता पिता को मनमुताबिक यहाँ से वहाँ स्थानांतरण करते रहते हैं।

---

[1] चन्द्रकान्ता- 'रात में सागर', 'अब्बू ने कहा था', पृ.10

भारत लौटनेवाले बेटे और बहु को गले लगाकर माँ का यह आर्तनाद कि- 'अब मुझसे यह दूरियाँ नहीं सही जाती' यह केवल बेटे को ही नहीं, बल्कि वर्तमान पीढी को संपूर्ण रूप से झकझोरनेवाली है। सब कुछ खो जाने के अहसास के बीच सडने के लिए बाध्य हुए बुजुर्ग पीढी के प्रति सहानुभूतिपुर्ण व्यवहार करना नई पीढी का कर्तव्य है- यहीं कहानी का संदेश है।

नवऔपनिवेशिक सभ्यता के चलते भारतीय उच्च-मध्य वर्ग ने अपनी सारी सभ्यता अपने सारे शिष्टाचार भी खो दिए हैं इसी बात को दर्शाती है चन्द्रकान्ता की कहानी 'लाजवाब'। कहानी में विदेश से आए भाईजी के साथ उनके बचपन के मित्र को ढूँढते हुए कथावाचिका एक छोटे से गांव में जाती है। लेकिन वहाँ अचानक कथावाचिका का अपनी पुरानी सहेली शांता से मुलाकात हो जाती है। शांता एवं उसके परिवार के माध्यम से लेखिका यह कहना चाहती है कि भारतीय संस्कृति की जडों को बचाए रखने का काम निम्नवर्ग ही कर रहे हैं, न कि आयातित पश्चिमीकरण के रंग में रंगनेवाले उच्चवर्ग और मध्यवर्ग। क्योंकि शांता जैसे अभावों में रहनेवाली निम्नवर्ग की स्त्री अपने पुराने मित्रों की खातिरदारी इतनी संजीदगी के साथ करती है कि उन्हें खुद अपने ऊपर शर्मिदगी महसूस होती है। अप्रत्याशित रूप से मिले अतिथ्य को भी पूरी निष्ठा के साथ निभानेवाले ये लोग वर्तमान समाज के सामने एक मिसाल के रूप में खडे हैं। अतः कथावाचिका शांता से कहती है-"अरे! यह दूध कौन पिएगा? कमाल हो

तुम शोता! आजकल तो नए समधियों की आवभगत भी दुध-मलाई से नहीं की जाती। हम तो तुम्हारे अपने है...।"[1]

इतनी शानदार आव-भगत के बाद थी शांता की नन्हीं सी पोती के हाथ में शगुन के तौर पर कुछ रख्नने के लिए कथावाचिका भूल जाती है। और अपने कृत्य पर पश्चाताप करती है। आज भारत के उच्च मध्य वर्ग के लोग जिस पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करते है, वहाँ पर इस तरह के शिष्टाचार का कोई महत्व नहीं है। मानव की सामाजिकता के गुण ही अब नष्ट हो गए हैं। क्योंकि आज मानव सारे नाते-रिश्तों से कटकर एक सीपी के अंदर ख्रुद को पालता है। जहाँ पर बाहर से किसी की पहुँच नहीं होती। लेकिन कथावाचिका के कृत्य के बारे में भाईजी कहता है कि तुम बच्ची के हाथ में, कुछ रुपए रख्र देती तो उन्हें लगता कि तुम उनकी ख्रातिरदारी की कीमत चुका रही हो। हो सकता है उनके आत्मसम्मान को चोट पहुँचती...।"[2] क्योंकि आत्मसम्मान की भावना भी अगर कहीं पर शेष है तो वह निम्नवर्ग में है। अब भी भारतीय संस्कृति अपने धुंधले रूप में निम्नवर्ग में विद्यमान है, क्योंकि नवऔपनिवेशिक विकृत सभ्यता के चपेट में वे अब तक पड नहीं पाए है। अतः कहानी के ज़रिए कहानिकार का लभ्य यह बताना है कि भारतीयता के जो बीज अब निम्न वर्ग में बचा हुआ है, उसे संपूर्ण भारत में रोंपने का काम हम भारतीयों को करना चाहिए।

---

1 चन्द्रकान्ता- 'लाजवाब', 'अब्बू ने कहा था', पृ.48

2 उपर्युक्त, पृ.52

चन्द्रकान्ता की तक अन्य कहानी 'तहरीफ उर्फ चकई-चकरघिन्नी' में वर्तमान उत्तर आधुनिक सामाजिक परिस्थितियों के बीच निरंतर पिसते एक परिवार का चित्रण प्रस्तुत किया है। जीवन में ज्यादा से ज्यादा सुख-सुविधाएँ प्रात करने के चक्कर में व्यक्ति नगर एवं महानगरों में जीवन व्यतीत करते हैं। लेकिन महानगरों में गृहस्थी रूपी गाडी को आगे ले जाने के लिए किस तरह स्त्री एवं पुरुष को समान रूप से छुट्टियाँ, बजट, बॉस, ऑफिस, लीव, किराया, किस्तें आदि के बीच पिसना पडता है, इस बात को कहानी में निशा एवं निलय के जरिए लेखिका पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है। गांव की अपेक्षा नगर की खासियत यह है कि वहाँ व्यक्ति गाडी, फ्रिज, वाशिंग मशीन जैसी आधुनिक सुविधाओं के बगैर जी नहीं सकता। और इन सबकी प्राप्ती के लिए व्यक्ति किश्तों में चीज़ें खरीदता है। किश्तों में गाडी एवं घर की सारी सुख-सुविधाएं बटोरते समय व्यक्ति यह भूल जाता है कि जीवन की विपरीत परिस्थितियों में उन किश्तों की पूर्ती वे कैसे करेंगे। निशा एवं निलय की जिंदगी में भी ऐसी विपरीत परिस्थितियाँ आती है। जब निलय दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है तब वह ऑफिस से छुट्टि लेता है। तब निशा को पूरे घर एवं पति को अकेले संभालना पडता है। पति के पास रहकर उसकी सेवा भी वह नहीं कर पाती क्योंकि ऐसा करने से उसकी नौकरी पर आंच आ सकती है और घर की सारी सुख-सुविधाओं की किश्तें भी उसे ही भरना है। दूसरी ओर पति को ऐसे हालत में वह अकेले छोड भी नहीं सकती। उत्तर आधुनिक समाज में महानगरीय जीवन जीनेवाले हर व्यक्ति की स्थिती 'छोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' जैसा बन जाता है।

जीवन को पूरी सुख-लोलुपता के साथ जीने के चक्कर में आदमी जब अपनी खर्चों, जरूरतों को बढाता है, तब उसका परिणाम क्या हो सकता है यही कहानी दर्शाती है।

वैश्वीकृत समाज की एक खासियत यह है कि वहाँ 'मैरीड वुमन' से ज्यादा 'अनमैरीड गर्ल्स' को 'प्रेफर' करते है। क्योंकि भूमण्डलीकृत समाज 'ब्यूटिफुल अनमैरीड गर्ल्स' की चक्कर काटता है। इसीलिए कहानी में निशा की नौकरी छुट जाती है, और बहुत कोशिशों के बाद ही उसे दुसरी नौकरी मिलती है। क्योंकि भूमण्डलीकृत समाज में घर परिवार के चक्कर काटनेवाली 'मैरीड वुमन' वर्तमान समाज के लिए 'अनवान्टड' बन गयी है। क्योंकि मल्टी नैशनल कंपनियाँ चाहते हैं कि युवा वर्ग अपनी क्षमताओं का पूरा का पूरा उपयोग संस्था के लिए करें, अपने घर-परिवार से ज्यादा वक्त एवं वफादारी संस्था के साथ निभाएँ। एक शादी-शुदा, बाला-बच्चों वाली स्त्री की जडें तक ऐसी परिस्थितियों में हिल जाती है। अतः भारतीय परिवार के टूटन के लिए यह एक महत्वपूर्ण कारण बन गया है।

चन्दकान्ता की एक अन्य कहानी है 'पुरस्कार' जिसमें लेखिका का लक्ष्य उत्तर औपनिवेशिक समाज में पश्चिमी अनुकरण से बननेवाली 'लेडीस क्लब' जैसी संस्थाओं की अर्थहीनता एवं फूहडपन को दर्शाना है। अब छोटे छोटे शहरों में भी मल्टी नैशनल कंपनियाँ स्थापित हो गाई है। इसके कारण लोगों का मानता है कि वे ज्यादा से ज्यादा सभ्य बन गए है। तब वहाँ की महिलाओं को

भी पश्चिमी महिलाओं के अनुकरण कर अपने आपको सभ्य बनाने की लालच उत्पन्न होना स्वाभाविक है। और इसके लिए क्लबों का होना नितांत जरूरी है। अतः कहानी के ज़रिए लेखिका ने इस तरह के क्लबों की सारहीनता को व्यंग्यात्मक ढंग से दिखाया है। क्योंकि उत्तर आधुनिक समाज में हर व्यक्ति की मानसिकता यही है कि वह किसी तरह दूसरों के सम्मुख अपने आपको सभ्य एवं श्रेष्ठ दिखलाएँ। अतः इस होड के कारण वह किटि पार्टियों एवं क्लबों का सदस्य बन जाती हैं। क्योंकि वर्तमान औपनिवेशिक समाज में सभ्यता का मापदंड यही है।

कहानी में कुछ महिलाएँ मिलकर लेडीस क्लब की स्थापना करती है। जैसे कि हर क्लब-संस्थाएँ दावा करती है, उसी तरह लेडीस क्लब भी दावा करता है कि उनका लक्ष्य समाज सेवा है। वास्तव में इस तरह के क्लबों में ईर्ष्या, द्वेष, एक दूसरे का टांग खीचना जैसी प्रवृत्तियाँ ही दिखाई देती है। खास तौर पर 'अहं' अथवा 'ईगो' का भाव उनमें सर्वत्र विद्यमान है। क्योंकि वहाँ किसी का पति मल्टीनैशनल कंपनि में मैनेजर है, तो किसी का केवल जूनियर इंजीनियर है। अतः क्लास वन अफ्सरों की बीवियाँ, क्लास टु अफसरों की बीवियों के साथ समभाव नहीं रख पाती। यहाँ कहानिकार बहुत व्यंग्यात्मक ढंग से यह बताने की कोशिश करती है कि किस तरह सामाजिक सेवा के नाम पर स्थापित संस्थाओं में भी ऊँच-नीच का भेदभाव एवं गिरी हुई राजनीति काम करती है। वहाँ की महिलाओं के चर्चा का विषय न तो समाज है और न ही सामाजिक समस्याएँ बल्कि एक-दूसरे की साडियाँ, हेयर स्टाइल, आदि की चर्चा

ही वहाँ पर चलती है। लेकिन ऐसी औरतों का दावा है कि वे सामाजिक संस्था के सदस्य है। लेकिन उनके लिए यह मात्र 'सोष्यल स्टैटस' का सिंबल है। यह अलग बात है कि उनका सामाजिक कार्य बहुत ही हास्यास्पद है।

राकेश मिश्र की कहानी संग्रह 'बाकी धुआँ रहने दिया' की कहानी 'बाकी धुआँ रहने दिया' में पश्चिम से आयातित 'Use and throw away' अथवा 'भोगो और त्याग दो' वाली डिस्पोसिबल सभ्यता की ऊलजलूल परतों को कहानीकार उद्‌घाटित करते हैं।

कहानी में सरिता जैसे पात्र उत्तर आधुनिक समाज की लडकियों का प्रतीक है जो प्यार जैसे संबन्धों को 'बिसिनस माइंड' से नाप-तौल करती है। और अपने कृत्य पर जरा भी हिचकिचाहट महसूस नहीं करती। सरिता अपने स्नातकीय जीवन में अपनी जरूरतों के लिए अविनाश के साथ जुडती है तो रिसर्च के दौरान रमेन्द्र के साथ। सालों बाद अविनाश के साथ हुई मुलाकात में इसकी वजह बताती हुई सरिता कहती है-"इनसे मिलिए ये है रमेन्द्र। जैसे आप मेरे भूतपूर्व है, वैसे ही ये अभूतपूर्व मित्र है। समूची थीसिस चार दिनों में ही इन्होंने टाइप करवा दीं है।"[1] यहाँ कहानीकार के द्वारा यही दर्शाने की कोशिश की गई है कि सरिता जैसे वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति में पलनेवाली नई पीढी मात्र उपभोक्ता में तब्दील हो रहे है, जो चीज़ों एवं संबन्धों को एक ही स्तर पर तौलती है और उसका अधिक से अधिक उपभोग करती है। कहानी में देख्र

---

[1] राकेश मिश्र- 'बाकी धुआं रहने दिया', 'बाकी धुआं रहने दिया', पृ.135

सकते हैं कि जब तक अविनाश विश्वविद्यालय में पढता था, सरिता अपनी हर एक आवश्यकताओं की पूर्ती उससे कराती है। लेकिन जब वह वहाँ से चला जाता है, तब वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए दूसरे बकरे को चुन लेती है। आजकल संबन्धों के धरातल पर एक दूसरे के व्यक्तित्व से ज्यादा उसकी उपयोगिता को देखा जाता है। प्रतियोगिता के वर्तमान दौर में मल्टीनैशनल कंपनियों में भी ऐसी ही स्थिति चल रही है। अतः संपूर्ण समाज में आज उपयोगितावादी दृष्टि पनप रही है, जो समाज के लिए हानिकारक है।

राकेश मिश्र की 'बाकी धूआँ रहने दिया' कहानी संग्रह की कहानी है 'तुमने जहाँ लिखा था प्यार, वहाँ सडक लिख दो'। कहानी में राकेश मिश्र ने वर्तमान समाज का रू-ब-रू चित्रण अंकित किया है। आज प्यार, संबन्ध सब अर्थहीन एवं कपट हो गए हैं। अब प्यार, एक-दूसरे को भोगने या मनोरंजन के लिए किया जाता है। अतः वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में संबन्ध ज्यादा से ज्यादा अर्थहीन एवं सारहीन होते जा रहे हैं। संबन्ध जोडना, संबन्ध तोडना अब आम बात बन गई है। इस खेल में न तो पुरुष वर्ग पीछे है और न स्त्रीयाँ ही। अगर इस संस्कृति से किसी को गम होता है तो उसे झुंड से बिछुडे विचित्र जानवर की तरह जिन्दगी भर घुटना पडता है। यही वर्तमान समाज है, जहाँ कोई भी संबन्ध टिकाऊ नहीं रहता। भोगने के बाद उसे त्यागना आज की सबसे बडी शर्त बन गई है।

कहानी में उच्च शिक्षण संस्थाओं में प्रेम के नाम पर हो रही उच्छृखलता को दर्शाया है। कहानी में विश्वविद्यालय में पढ रहे बहुत सारे युवा-युवतियों के

नाम का जिक्र हुआ है, जो एक दूसरे से प्यार करते हैं, बाद में अलग होकर किसी दूसरे के साथ संबन्ध जोडते हैं। लडके-लडकी में समान फ्रीक्वन्सी का होना ही वहाँ प्रेम करने का एकमात्र शर्त हैं। इसीलिए ही रामसुधार मिसिर का आकर्षण उससे चार साल बडी कविता से हो जाती है। कमलेश गौतम की जिन्दगी में प्रभा आ जाती है, उसके बाद अनामिका आती है। अनामिका को जब चित्रों के प्रति दिलचस्पी बढती है, तो उसकी जिन्दगी में एक चित्रकार आ जाता है। जब उसके मन में काव्य प्रतिभा जोर मारती है, तब उसकी जिन्दगी में कमलेश गौतम का आगमन हो जाता है। इस तरह संबन्धों में आनेवाले परिवर्तन के विषय में वहाँ के युवा वर्ग का मानना है कि- "जब तक फ्रिक्वेंसी साथ दे, तब तक वे स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन, भ्रमण के बाद 'नाइट शेयर' की सीमा तक प्रोग्रसीव थे और फ्रिक्वेंसी के टूटते ही एक अजनबीपन भरी मुस्कान के साथ शिष्टाचरणवश कहा गया 'हलौ' का संबोधन होता।"[1]

प्रभा नामक लडकी कैलाश गौतम को चाहने लगती है, बाद में कैलाश का दोस्त रामसुधार के साथ प्रेम के बंधन में बंध जाती है। वर्तमान पीढी को जिन्दगी में प्रेम की ज़रूरत नहीं है, बल्कि रोमांचकता की ज़रूरत है। खुद की जिंदगी को भी एक फिल्मी ड्रामे की तरह देखनेवाले युवा पीढी का चित्रण हुआ है यहाँ प्रभा के माध्यम से। फर्स्ट ईयर के कमल मिश्रा को बेटा घोषित करना, रामसुधार से भी ज्यादा उससे निकटता रखना, कमल का खुले आम प्रभा के

---

[1] राकेश मिश्र- 'तुमने जहाँ लिखा था प्यार वहाँ सडक लिख दो', 'बाकी धुआं रहने दिया', पृ.12

कंथे पर हाथ डालना, 'ममी' के संबोधन के साथ-साथ अपनी जरूरतों के लिए प्रभा से पैसे लेना आदि ममत्व का प्रतीक नहीं बल्कि उपभोक्तावादी संस्कृति का दृष्टांत है। इस तरह के छद्म संबन्ध बनाकर युवा पीढी अपनी जिंदगी में रोमांचकता की पूर्ती करता है। जिस उत्तर औपनिवेशिक समाज में संबन्धों की भी कोई अहमियत नहीं है, वहाँ पर ऐसे रोमांचक संबन्धों को बनाने का लक्ष्य एक दूसरे का उपयोग एवं उपभोग करना ही है। अतः राम सुधार सोचता है- "यह कैसी उत्तर आधुनिकता थी, उपभोक्तावाद का कौन-सा नया चेहरा था, एक भोली-भाली लडकी की इमोशनल ब्लैकमेलिंग। उसे मम्मी कहकर उसके पैसों पर ऐश।"[1]

लेकिन कमल से दूर रहने की रामकुमार का उपदेश प्रभा स्वीकारती नहीं है। क्योंकि उसके जीवन से कमल की भूमिका को काटने का मतलब है रोमांचकता पर हमला। प्रभा जैसी उत्तर आधुनिक समाज में जीनेवाली औरत अपने प्रेम को छोड सकती है, लेकिन जीवन के नए-नए 'एक्सपिरिमेन्डस' में जो रोमांचकता मिलती है, उसे छोड नहीं सकती। और इस कारण प्रभा एवं रामसुधार के बीच दूरियाँ बढ जाती हैं और कमल के साथ उसकी नजदीकियाँ भी। धीरे-धीरे कमल के लिए प्रभा मां से दीदी और दीदी से प्रेमिका बन जाती है। उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों के कारण किस तरह भारतीय समाज का नैतिक पतन हो रहा है इसका चित्रण कहानी में हुआ है। यहाँ संबन्धों की

---

[1] राकेश मिश्र- 'तुमने जहाँ लिखा था प्यार वहाँ सडक लिख दो', 'बाकी धुआं रहने दिया', पृ.25

भूमिका केवल संबोधन तक ही सीमित है। उसकि भावात्मकता से कोई संबन्ध नहीं है। इसीलिए ही संबन्धों के नाम और रिश्ते यहाँ चुटकी बजाते बदल जाते हैं।

वर्तमान बाज़ारवादी युग में बाज़ार को हडपने, लूटने एवं भोगने की महत्वाकांक्षा मानव को पागलपन की हद तक ले जाता है यही कहना 'राजू भाई डॉट कॉम' नामक कहानी के माध्यम से राकेश मिश्र का लक्ष्य है। उत्तर आधुनिक समाज का दिशाहीन एवं महत्वाकांक्षा में डूबे व्यक्ति का प्रतीक है यहाँ राजू भाई। पेईटिंग, फुटबाल, गिटार, गायन सभी में सिद्धहस्त राजू भाई का सपना जिन्दगी में कुछ नया कर दिखाने का था, जिससे उसके हाथों में पैसों का बरसात् हो ताकि वह संपूर्ण बाज़ार पर कब्जा कर सकें। उत्तर आधुनिक समाज का व्यक्ति सुख-सुविधाओं को लूटने के चक्कर में किस तरह स्वयं लुटकर बर्बाद होता है, इसका दृष्टांत है यहाँ राजू भाई। बाज़ार एवं बाज़ार में बिकनेवाली हर एक चीज के प्रति उसे आकर्षण होता है और वह संपूर्ण बाज़ार को प्राप्त करने की कोशिश में लगा रहता है। वह अपने दोस्तों से कहता है- "मैं इतना कमाना चाहता हुँ कि कोई चीज़ यदि मुझे पसंद आ गए तो इसलिए मुझे मायूस न होना पडे कि उसे लेने के लिए मेरे पास पैसे नहीं है।"[1]

पैसा कमाने की बेहद ललक के कारण वह फोटोग्राफी से लेकर मार्केटिंग तक करता है। लेकिन किसी में भी सफल न हो पाने की वजह से वह पागलपन

---

[1] राकेश मिश्र- 'राजू भाई डॉट कॉम', 'बाकी धुआं रहने दिया', पृ.37

की हद तक पहुँचता है। यह कहानी उपभोक्तावादी संस्कृति में बुरी तरह ग्रस्त वर्तमान युवा पीढी के लिए 'सावधान' का संदेश देती है।

नए उभरकर आनेवाले कहानीकारों में पंखुरी सिन्हा का भी नाम उल्लेखनीय है। उनकी कहानी संग्रह 'किस्सा-ए-कोहेनूर' में समाज के, पारिवारिक मूल्यों के, संबन्धों के बदलते स्वरूप को चित्रित किया है। इस संकलन की कहानी 'समान्तर रेखाओं का आकर्षण' में लेखिका ने पश्चिमी एवं भारतीय सभ्यताओं की तुलना करते हुए अमरीकीकरण में जूझनेवाले भारतीय जनमानस का चित्रण प्रस्तुत किया है।

इस कहानी में रचना रिसर्च के लिए भारत से अमरीका जाती है। और वहाँ की सभ्यता के रंग में रंग जाती है। यहाँ लेखिका, रचना के माध्यम से उन तमाम भारतीयों का चित्रण किया है, जो नवऔपनिवेशन के तहत पाश्चात्य संस्कृति को तो आधुनिकता के नाम पर अपनाती है, मगर सदियों से हृदय में जडें जमाए अपनी भारतीय सभ्यता के न छोड पाने की वजह से मानसिक द्वन्द्व एवं घुटन भरा जीवन जीने के लिए बाध्य है।

पश्चिम में देहवाद का महत्व है, मगर भारत में आध्यात्मिकता का। अतः पश्चिमी सभ्यता का केवल शरीर के बाह्य सौदर्य पर केन्द्रित होना स्वाभाविक है। इसीलिए ही वहाँ सौंदर्य प्रतियोगिताओं का महत्व कहीं ज्यादा है। इसका प्रभाव पूरे संसार में, यहाँ तक कि आध्यात्मिकता को प्रमुखता देनेवाले भारत भी अब इस खेल के पीछे पागल है। ये प्रतियोगिताएं बुद्धि केन्द्रित नहीं बल्कि

हड्डियों के ऊपर के मांस, वसा और चमडे के नियंत्रण से ही जीती जाती है। अतः कहानी में रचना भी उस सभ्यता का हिस्सा बन जाती है। और अपने शरीर को नपा-तुला तथा फिट बनाने के लिए 'जिम' तथा 'फिटनस् क्लब' ज्वायन करती है।

पाश्चात्य सभ्यता के अनुरूप ढलकर भी, रचना की अंतरात्मा में मौजूद भारतीय संस्कृति के तत्वों की मौजूदगी के कारण, वह घोर मानसिक द्वन्द्व में पड जाती है। लेकिन वह सोचती है कि इस वातावरण और संस्कारों के प्रति जो धर्मयुद्ध है, वह अकेले नहीं लड सकती। यही आज हर भारतीय की स्थिति है। हम एक बार औपनिवेशन के दुष्परिणामों के प्रति भली-भाँति परिचित हुए थे, फिर भी आज नव औपनिवेशन के प्रति आवाज़ नहीं उठा रहे हैं।

हम भारतीय अपनी कुंडलिनी की ऊर्जा जगानेवाले हैं, न कि इन्द्रियों को जगानेवाले। आज हमें पश्चिम की भोगवादी एवं शरीरवादी सभ्यता ने ग्रस्त कर लिया है। अतः उस सभ्यता के बारे में रचना सोचती है-"यह कैसी देहगामी, देहवादी, देह केन्द्रित प्रतियोगिता है। या समूयी सभ्यता है? क्या हम देहजीवी है, बुद्धिजीवि नहीं? क्या हम मनु की सन्तान नहीं।"

पश्चिमी देहवाही संस्कृति का प्रभाव रचना पर भी पडती है, अतः वह अपने शरीर को नपा-तुला बनाने के लिए फिटनस क्लब जाती हैं। जहाँ पर विक्टर से उसका परिचय हो जाता है जो उसका ट्रेनर है। विक्टर के प्रति रचना के मन में प्यार होती है, लेकिन विक्टर को मात्र उसके शरीर के प्रति आकर्षण

होता है, जो लचकती है और ख़ूबसूरत है। शरीर के प्रति आकर्षण होना, और शादी से पहले ही शारीरिक संबन्ध स्थापित करना पश्चिमी सभ्यता में कोई नई बात नहीं है। रिश्तें को बदलना भी उनके लिए सिर्फ कपडे बदलने जैसा कार्य है। और भारतीय समाज इसी सभ्यता को आधुनिकता के नाम पर अपनाने के लिए लालायित है। अतः भारतीय भी आज ऐसे संबन्धों के लिए तैयार हो रहे हैं, क्योंकि वे आधुनिक बनना चाहते हैं। अतः उत्तर औपनिवेशिक समाज की सबसे घातक स्थिति यही है कि विदेशी चीज़ों के साथ विदेशी संस्कृति भी अनर्गल रूप से आयातित हो रही है, जिन पर नियंत्रण रखने की क्षमता हमने आज खो दिया है।

पंखुरी सिन्हा की 'किस्सा-ए-कोहनूर' कहानी संग्रह की कहानी है 'वीकतंड का स्पेस'। आज की दुनिया जिस तेज गति से, तेज रफतार से आगे बढ रही है, वहाँ जीने के लिए व्यक्ति को भी समान गति से आगे बढना पडता है। अतः इस बीच कभी-कभी व्यक्ति जीना ही भूल जाते हैं, रिश्ते-नातों को भूल जाते हैं। 'वीकएंड का स्पेस' कहानी में ऐसे ही एक कामकाजी औरत का चित्रण है, जो वीकएंड आते ही रविवार के दिन पूरे हफ्ते के थकान उतारने की आशा रखती है, और ऐसे में पति के द्वारा, हॉस्टल में रह रहे रिश्तेदार के बच्चे को घर बुलाना उसे मंजूर नहीं होती। इसलिए वह पति से पूछती है "पूरे

सप्ताह ऑफिस में परफॉर्म करने के बाद मुझे घर में भी परफॉर्म करना पडता है।"[1]

कहानी में उत्तर आधुनिक समाज की एक आधुनिक नारी का चित्रण हुआ है, जिसके मन में न ममत्व की भावना है, न सौहार्द्ध। वर्तमान समाज के लोग अपनी निजी जिन्दगी में बाहर से किसी की भी आपाधापी पसंद नहीं करते, चाहे वह एक छोटा-सा बच्चा ही क्यों न हो। व्यक्ति के अंदर से आज सहजता नष्ट हो गई है। आज व्यक्ति के मन में किसी के प्रति सहज प्रेम भावना नहीं है। आज व्यक्ति दिल से हँसता या रोता नहीं, बल्कि एक मुस्कुराहट अपने चेहरे पर चिपकाता है। इसीलिए ही आज किसी का भी चेहरा, मन का दर्पण नहीं रहा। अतः आज व्यक्ति जिस तरह आंफिस में परफॉर्म करते हैं उसी झूठे नकाब को धारण करके घर में, परिवार में, और रिश्तेदारों के बीच भी परफॉर्म करते हैं। और यहाँ तक कि पति-पत्नी भी तक दूसरे के सामने परफॉर्म करते हैं, क्योंकि किसी के भी मन में आज आत्मीयता या अपनत्व बचा नहीं रह गया है।

सूर्यबाला की 'मानुष गंध' कहानी भारतीय मिट्टी से गुमनाम हो रहे मानुष गंध की ओर इशारा करती है। वर्तमान भारत के युवा वर्ग, विदेशों से शिक्षा पाकर, विदेशों में नौकरी करके, विदेशी रंग में रंग जाते हैं। लेकिन 'मानुष गंध' कहानी के ज़रिए लेखिका यह बताती है कि। भारत के वर्तमान युवा पीढी का विदेश के प्रति बढते लागाव के लिए जिम्मेदार हमारे तत्कालीन

---

[1] पखुरी सिन्हा- 'वीकएंड का स्पेस', 'किस्सा-ए-कोहनूर', पृ.28

सामाजिक व्यवस्था भी है। कहानी में वैभव अमरीका जाकर डॉ. ब्राइसन के निर्देशन में किड्नी ट्रांसप्लांट पर शोध करता हैं। शोध कार्य संपन्न करने के बाद वैभव का गाइड ब्राइसन के द्वारा वही रहनकर उनके प्रोजक्ट में भाग लेने के निवेदन के बावजूद भी वह अपना देश लौटना चाहता है। भारत लौटने पर वैभव का अनुभव देख्रकर हमें यही लगता है कि क्यों भारत के नवयुवक विदेशों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। काबिली, महनती एवं क्षमता संपन्न होने के बावजूद भी भारतीय मिट्टी से युवाओं को केवल, दुत्कार एवं उपेक्षा ही मिलती है। कहानी में वैभव अमरीका में मिल रहे मेहंगी ऑफरों को नकारकर भारत इसलिए लौट आता है कि वह अपने शोध एवं ज्ञान का फायदा भारत को देना चाहता है, ताकि भारत के बच्चों को उच्च चिकित्सा विदेशों से नहीं, भारत से ही प्राप्त हो जाएँ। लेकिन भारतीय संस्थाओं द्वारा वैभव की उपेक्षा होती है। क्योंकि इतनी बडी डिग्री के लिए योग्य चिकित्सा व्यवस्था भारत में शुरू नहीं हुई है। तो सभी संस्थाओं के द्वारा वैभव को यही उपदेश मिलता है कि- "इतने पैसे ख्रर्च कर कमाया हुनर इस मिट्टी के मोल बेचना चाहते हो? इतना भी नहीं जानते कि यही मुर्गो वहाँ सोने की अंडा देगी और यहाँ हलाल कर दी जाएगी।"[1] ऐसा वक्तव्य हमें यह सोचने के लिए विवश करता है कि भारतीय युवा वर्ग को विदेशों में जाने और वहाँ बसने के लिए प्रेरित करनेवाली शक्तियाँ क्या है? वैभव जैसा, एक बहुत बडा युवा वर्ग है, जो अपनी देश से नाता तोडकर विदेशों में बसने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन उस युवा वर्ग को भारत

---

[1] सूर्यबाला- 'मानुष गंध', 'मानुष गंध', पृ.16

में ही बसाने में, उनकी क्षमताओं का सही मायनों पर इस्तेमाल करने के लिए हम तैयार नहीं है। ऐसे संदर्भ में उनके सामने कोई विकल्प नहीं बचता और मजबूरन विदेश जाने के लिए विवश हो जाते हैं जैसे कहानी में वैभव। अंत में भारतीय मिट्टी पर कहीं शरण न मिलने पर वैभव अपने गाइड ब्राइसन के प्रोजक्ट में भाग लेने के लिए वापस अमरीका चला जाता है। जिस मानुष गंध की कामना वह भारतीय मिट्टी से करता था, अंत में वह उसे पराए देश से प्राप्त होता है।

सूर्यबाला की एक अन्य कहानी 'दादी और रिमोट' में लेखिका यही कहने की कोशिश करती है कि उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियाँ भारत के युवा वर्ग को ही नहीं बुजुर्गों को भी अपनी चपेट में ले लिया है। 'दादी और रिमोट' नामक कहानी गांव से शहर आकर अपनी सारी मानवीयता एवं संवेदनाएँ खोनेवाली दादी की है। गांव के खुले वातावरण से शहर आकर दादी पिंजरे में कैद चिडिया की तरह हो जाती है। उन्हें शहरी वातावरण बिलकुल नहीं लुभाता। क्योंकि वहाँ गांव की तरह अपनी इच्छानुसार कहीं भी घूमना, एक-दुसरे से मिलना, दूसरों के सुख-दुख का हिस्सा बनना जैसी बातें नहीं है। क्योंकि यहाँ का व्यक्ति मात्र अपना ख्याल रखता है, अपने सुख-दुख से मतलब रखता है। अपने बेटे के पास रहकर भी दादी अकेली हो जाती है। क्योंकि सुबह होते ही बेटा दफतर, बहू कॉलेज और पोता-पोती स्कूल के लिए निकल जाते हैं। ऐसे में दादी को सारा दिन कमरे में बंद रहना पडता है। अतः दादी की मनोरंजन के लिए उनके कमरे में टी.वी लगाया जाता है। टेलीविज़न की

विचित्र दुनिया को देखकर पहले दादी हकबका जाती है। क्योंकि उनके लिए वह दुनिया बिलकुल ही अन्य थी। टी.वी का रिमोट लेकर दादी को ऐसा लगता है जैसे अलादीन का चिराग हाथ लगा गया है- "जैसे यक्ष-किन्नर, नाग-गंधर्व तीनों लोक, चौदहों भुवन से लेकर संपूर्ण ब्रह्मांड डंवाडोल हो, इस चौखूँटी पेटी (बक्से) में।"[1]

जहाँ घर के सदस्यों को अपनी-अपनी व्यस्तता के बीच एक दूसरों से बात करने का समय ही नहीं है, तब दादी का एकमात्र आसरा टी.वी का हो जाना कोई आश्चर्यचकित बात नहीं है। लेकिन समस्या तब उत्पन्न होती है जब टी.वी में दिखायी जा रही खुशहाल दुनिया से खुश हो जानेवाली दादी, उसमें दिखाई जा ही गोली बारी से डर जाती है। इस कारण उन्हें अपने बेटे-बहु से डाँट मिलती है कि वे टी.वी की दुनिया को सच मानकर क्यों परेशान हो रही है। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें टी.वी में दिखाई जा रही दुनिया की मारपीठ, आतंक, अत्याचार मारा-मारी की आदत हो जाती है। कहानी के उत्तरोत्तर बढते हुए, पाठक को दादी के संवेदनात्मक स्तर के उत्तरोत्तर गिरने का अहसास हो जाता है। क्योंकि पहले घर के नौकर जंगबहादुर से उसकी माँ की दवा, बाप का दारू और बहिन की शादी की पूछताच एवं चिंता व्यक्त करनेवाली दादी अब सिर्फ अपने टी.वी के कार्यक्रम में ही मग्न रहने लगती है। गांव के संस्कारों को लेकर शहर आनेवाली दादी को किस तरह शहर के उत्तर आधुनिक समाज की संस्कारगत परिवर्तन घेर लेती है, यही कहानी का मुख्य विषय है। कहानी में

---

[1] सूर्यबाला- 'दादी और रिमोट', 'मानुष गंध', पृ.47

दादी के इस परिवर्तन का जिक्र कुछ इस तरह मिल जाता है-"धीरे-धीरे मारधाड से डरना, रोना-कल्पना भी बंद हो गया। घरवालों को राहत मिली। अब अपने-अपने काम से घर लौटने के बाद शाम को दादी उन्हें बेवजह घेरने घारने के बदले अपने कमरे में टी.वी देखती मिलती या टी.वी देखने के बाद थकी आँखों को आराम पहुँचाती। अब वे जबरदस्ती के 'सिली' सवालों से किसी को परेशान भी न करती।"[1] लेकिन जब शहर में वास्तविक दंगा होता है, वास्तविक गोलीबारी होती है तो दादी इन सब बातों से तिल भर भी विचलित नहीं होती। घर-बाहर के सभी लोग परेशान होते हैं, लेकिन दादी के मन में कोई हडबडी या उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। आसपास हो रही मारामारी में एक लडके की मौत का समाचार सुनने के बावजूद भी वे अपने पोते से इतना मात्र कहती है कि- "चाय की हुडक लग रही है। ज्यादा सो लिया क्या?...जंगबहादुर ने चाय चढाई कि नहीं, देख तो ज़रा बेटा।"[2] यह अवस्था उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों के मकडजाल में फँसी संवेदनशील दादी के संवेदनशून्य होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। यह केवल दादी की ही नहीं, हमारे राष्ट्र के आबालवृद्ध जनों की स्थिति भी यहीं है कि हम मानव एवं मानवीयता से कोसों दूर चले जा रहे हैं और एक सीपी में बंद होकर अपने ही सुख-दुखों को जीते-भोगते हैं।

---

[1] सूर्यबाला- 'दादी और रिमोट', 'मानुष गंध', पृ.52

[2] उपर्युक्त, पृ.53

सूर्यबाला की ही एक अन्य कहानी 'जश्न' में अपने दादा-दादी की परलोक सिधारने का इंतज़ार करनेवाली बेटे-बहुएँ और पोता-पोती की कहानी है। क्योंकि वर्तमान समाज वृद्धों को केवल बोझ एवं बाधा के रूप में देखते हैं। वे चाहे अपने मात-पिता हो, चाहे दादा-दादी। बुढापे में लोग अपने संपूर्ण परिवार का प्रेम पाकर आराम से रहने की चाहत संजोऐ जीते हैं। लेकिन उत्तर औपनिवेशिक समाज उन्हें प्यार एवं सहारा देने के बदले उनके मर जाने की कामना करता है। इसीलिए कहानी में दादा-दादी के मर जाने की कामना को लेकर एक जश्न रखता है। लोगों को भोजन दिया जाता है, और दादा-दादी को उपहारस्वरूप एक सीढी दी जाती है ताकि उनके स्वर्गारोहण में कोई बाधा उपस्थित न हो। क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक समाज में बौद्धिक जीवन जीनेवाला व्यक्ति यह सोचने में अक्षम है कि अपने माता-पिता के सामने ही उनके मर जाने की कामना करना और उसे एक जश्न के रूप में मनाना उनके लिए कितना दुखदायी बात हो सकती है।

सूर्यबाला की एक दूसरी कहानी 'सजायाफता' शालिनी नामक एक लडकी की है, जो निम्न-मध्यवर्गीय परिवार से उच्च वर्गीय परिवार में विवाह करके जाती है, और उन्हीं तौर-तरीकों में रंगते चली जाती है। भारत के ज्यादातर उच्चवर्गीय समाज श्रेष्ठता के चक्कर में पश्चिमी सभ्यता को, पश्चिमी रहन-सहन को, पश्चिमी तौर-तरीकों को अपनाते हैं। और भारतीयता को असभ्य समझते है और 'हेय' दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए शादी के बाद शालिनी को अपने घर से किसी का भी ससुराल आना पसंद नहीं है। जब

शालिनी का भाई उसके ससुराल आते हैं, तब उनके व्यवहार से वह शर्मिंदगी महसूस करती है। उत्तर आधुनिक समाज का फैशन और तौर-तरीकों को न समझनेवाले भाई की नादानगी को वह सबसे छिपाने की कोशिश करती है। घर के नौकर का हैसियत भी उसे भाई के हैसियत से ज्यादा महसूस होती है। क्योंकि उसका भाई न तो 'पेस्ट्री' पहचानता है न ही 'मक्रोणी' और न ही 'बियर' शब्द का सही उच्चारण कर सकता है। इसलिए ही उसे भाई की हर बात पर दूसरों द्वारा उसे सुनने की डर लगी रहती है। क्योंकि भाई की बातों में अपने अभाव भरा जीवन होगा, एक अशिक्षित ग्रामीण की तृटियाँ होगी। और यह सब उसके सभ्य समाज के लिए हास्यास्पद है।

पश्चिमी अनुकरण पर जो नपे-तुले जिन्दगी उच्च वर्ग जीते हैं। उसमें न तो कोई किसी का निकट है, न ही संवेदना का केन्द्र है, न तो वहाँ कोई भावुकता की गुंजाइरा है, न ही प्रेम की निरछल धारा। इसीलिए ही सालों बाद घर आनेवाले भाई से भी पूछने के लिए शालिनी के पास कोई जिज्ञासा नहीं रहती। उसका भाई, बहिन के इस व्यवहार के बारे में सोचता है-"कहीं कोई कौतूहल, जिज्ञासा या प्रश्न नहीं, सब कुछ जैसे समय की अटपटी-सी ख़ामोशी चुपचाप निगल गई। कहाँ गए वे सारे के सारे सवालों के गुच्छे, जो किसी अपने को इतने दिनों बाद देखने ही भरभराकर टूटने, बिखरने लगते हैं,

बेतरतीब यहाँ-वहाँ एक दूसरे से करते से .....और कहाँ यह एकदम जमी हुई जडता।"[1]

अपने भाई की असभ्यता का अहसास घरवालों को न हो, इसलिए शालिनी नहाने से पहले भाई को अपने सास से मिलने नहीं देती। और न ही नहाने के लिए उनके भद्दे सामान निकालने देती हैं। वह कहती है-"तौलिया क्यों निकालते हैं दादा...है न बाथरूम में ...साबुन, कंघी, तेल सब कुछ, थोडे दिन के तो है आप...शेव के लिए भी इनका रेजन है न...मत निकालिए इतना डिब्बा।"[2] क्योंकि भत्या का जंग खाया डिंब्बा निकालकर वह अपने सारे मान-सम्मान की निलांजलि देना नहीं चाहती।

जो व्यक्ति गांव से शहर और महाशहर में जाकर बसता है, वह अपने जडों को काटकर उस संस्कृति में खुद को रोप देता है। दायें हाथ से खाना खाना सभ्यता समझनेवाली शालिनी ससुराल जाकर दोनों हाथों के इस्तेमाल करके खाना खाने के तरीके को देखता है। यहाँ दो संस्कृतियों का अंतर हमें देखने को मिलता है।

उच्च सभ्य लोगों की खासियत यह है कि वहाँ पर कोई किसी-से खुलकर बातचीत नहीं करता। केवल नपे-तुले शब्दों का ही प्रयोग करता है। और उन शब्दों के बीच की खाई को न तो शालिनी के भाई जैसे लोग भर सकते हैं, और

---

[1] सूर्यबाला- 'सजायाफता', 'मानुष गंध', पृ.83

[2] उपर्युक्त, पृ.84

न ही समझ सकते हैं। वहाँ पर संबन्धों के बीच न तो निकटता है, न ही स्वाभाविकता। इसीलिए ही भाई के वापस जाने की ख़बर सुनकर शालिनी ख़ुशी एवं राहत महसूस करती है। लेकिन एक कुशल अभिनेत्री के समान उदास दिख्राती है। अर्थात उत्तर आधुनिक सभ्य समाज का व्यक्ति रिश्तों को उनकी निकटता एवं आत्मीयता के बदौलत नहीं तौलता बल्कि 'मणि' ही उस मापदण्ड के मूल में रहता है। जिनके पास पैसा है, सत्ता है, अधिकार है वे रिश्तेदार हो जाते हैं, और इन सबके अभाव में रिश्तेदार भी गैर हो जाते हैं। यही उत्तर औपनिवेशिक समाज की विशेषता है।

वर्तमान सामाजिक जीवन में विज्ञापन के प्रभाव को दिख्राती है सूर्यबाला की 'मातम' नामक कहानी। क्योंकि वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ इस तरह बदल गई है कि चाहे माहौल विवाह का हो या मातमपुर्सो का, चर्चा का विषय तो बाज़ार में आए नए-नए 'प्रोडक्टस' ही होते हैं। वर्तमान बाज़ारी संस्कृति का मुख्य तत्व है विज्ञापन है। क्या ख्राना है, क्या पीना है, क्या पहनना है, सब विज्ञापन ही तय करते हैं। व्यक्ति आज उसी के अनुसार जीता है, उसी के अनुसार मरता है। कहानी में लेख्रिका, एक दिवंगत व्यक्ति के यहाँ मातमपुर्सी के लिए आए रिश्तेदारों का चित्र प्रस्तुत करती है। आज के लोग इतने संवेदनहीन बन गए है कि एक या दो घंटे के लिए ही वह दुख्री रह सकता है क्योंकि उसके पास दुख्री रहकर बिताने के लिए वक्त नहीं है। इसलिए वह जल्दी ही सहज हो जाते हैं। कहानी में बताता है- "शोक का आवेग थमने पर दूसरी-दूसरी बातें होने लगती। गली मुहल्ले और शहर में घटी दुर्घटनाएँ, चोरियों, बाज़ार में आए

नए प्रोडक्ट कुकर, चाय, मसालों की ब्रांडों और टी.वी सीरियलों की।"[1] बाज़ार में आनेवाली नए-नए चीज़ों के विज्ञापनों को देखकर व्यक्ति अपनी आवश्यकता एवं अनावश्यकता की परख करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे में आवश्यक एवं अनावश्यक चीजों से अपने घर को भर देता है। और ऐसा करके वह दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझकर गर्व करने लगता है।

मातमपूर्सी जैसे मौकों पर वृद्ध लोग भी ज़िद करके इसलिए आते हैं, क्योंकि वे इसे अपने हमउम्र के लोगों से मिलने-बतियाने का मौका समझते हैं। क्योंकि विज्ञान एवं तकनीकी के तेज रफतार के बीच वृद्धों के प्रति लोगों का उपेक्षा भाव बढ रहे हैं। क्योंकि नवऔपनिवेशिक समाज इस तत्व पर टिका हुआ है कि जिसकी उपयोगिता हो वही टिका रह सकता है। और बिना उपयोगिता के किसी का भी स्थायित्व पृथ्वी पर नहीं है। ऐसे में वृद्धों की उपेक्षा होना, उन्हें अवांछनीय समझना स्वाभाविक बात है। कहानी में वे अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए कहते हैं-"क्या करें, बेटे इतने व्यस्त रहते हैं कि उन लोगों को कही ले जाने, मिलवाने का उन्हें वक्त ही नहीं मिलता। इतना मन करता है, सबके घर आने-जाने को, बोलने-बतियाने को, लेकिन ये लोग इसे फालतू का काम समझते हैं।"[2]

जीवन को ही एक जश्न समझनेवाले उत्तर आधुनिक समाज के लोग मत्यु को भी एक जश्न के रूप में मनाते हैं। कहानी में दिवंगत व्यक्ति की पत्नी एवं

---

[1] सूर्यबाला- 'मातम', 'मानुष गंध', पृ.105

[2] उपर्युक्त, पृ.107

नौकर के अलावा बाकी सभी रिश्तेदार उसे एक उत्सव के रूप में मना रहे हैं। परिस्थितियाँ मानव को कितना संवेदनहीन बनाती है, इसकी दृष्टांत है कहानी।

उनकी एक अन्य कहानी 'चिडिया जैसी माँ' कथावाचक की अपनी माँ के प्रति लिखे गए पत्र के रूप में है। क्योंकि कथावाचक अपनी नादान माँ को उत्तर आधुनिक समाज के आत्मकेन्द्रित व्यक्ति के चरित्र के बारे में वाकिफ कराना चाहते हैं। भारत में संयुक्त परिवार का विघटन एवं अणु परिवारा का उद्‌भव पश्चिमीकरण के कारण ही हुआ था। क्योंक व्यक्ति बडे इकाई से छोटे-छोटे टुकडों में बँटने में विश्वास करने लगे। कहानी की माँ अपने बेटे को बडे ही आशा-आकांक्षाओं के साथ पालता है। लेकिन विवाह के पश्चात् जब मधूलिका जैसी 'मॉडर्न' नौकरीपेशा आधुनिक लडकी वधु बनकर घर आती है तो वह पति पर अपना एकाधिकार चाहती है। एक बेटी की तरह बहु को प्यार देने के पश्चात् भी वह माँ के बर्ताव में कोई-न-कोई कमी ढूँढ लेती है। नौकरी पर गए मधूलिका की अलमारी करीने से संजोकर रखनेवाली माँ की प्रवृत्ति उसे केवल उसकी जिंदगी में दखलअंदाज़ करना प्रतीत होती है। और वह फफककर रोती हुई पति से कहती है-"मुझे मुक्ति चाहिए। मैं छुटकारा चाहती हुँ-छुटकारा-इस घुटन से सब कुछ से-सब कुछ से।"[1]

उत्तर आधुनिक समाज का व्यक्ति अपनी जिंदगी अलग अलग सीपियों में बंद करके जीना चाहता है। जहाँ अपने किसी भी मामले में किसी का भी

---

[1] सूर्यबाला- 'चिडिया जैसी माँ', 'मानुष गंध', पृ.116

दख़लअंदाज़ उन्हें सह्य नहीं। क्योंकि यह पीढी अपने ऊपर किसी का भी नियंत्रण नहीं चाहता। वह मुक्ति में विश्वास रख़ता है। कहानी की माँ अलमारी सजाने के बहाने चाहे उसके प्रति प्यार जताना चाहती हो, तो भी उसे वह मंजूर नहीं। क्योंकि अपनी निजी जिंदगी में किसी की भी 'इंटरफियर' उसे बरदश्त नहीं। उसकी दुनिया, उसका स्वत्व अपने आपमें सीमित है।

सूर्यबाला की एक अन्य कहानी 'भूक्खड की औलाद' में शहरी संस्कृति रूपी क्रूर निभ्रंस पशु द्वारा गांव का निष्पाप, निष्कलंक एवं निष्कपट व्यक्तित्व को रौंदने की कथा है। कहानी में कथावाचिका की माँ गांव से बैजनाथ नामक व्यक्ति को नौकरी के वास्ते कथावाचिका के साथ मुंबई भेजती है। जहाँ वह अपने पति की कंपनि में बैजनाथ को एक छोटी सी नौकरी तो दिला देती है, मगर शहर की अलगाववादी प्रवृत्ति बैजनाथ को अंदर से तोडकर रख़ देता है। क्योंकि वैश्वीकरण के इस युग में बडे बडे महानगरों के उपभोक्तावादी समाज में जान पहचान का कोई मूल्य नहीं है। वहाँ अपनत्व की कोई गुंजाइशा नहीं। श्रेणियों में विभक्त लोगों के बीच, रिश्ते भी समान श्रेणी के लोगों के साथ ही होता है। और वह भी नाम मात्र के। इसलिए ही कंपनि में बैजनाथ को सामने देख़ने के बावजूद भी कथावाचिका का पति उसे अनदेख़ा करता है। क्योंकि उत्तर आधुनिक समाज में संबन्धों का बुनियाद मात्र 'स्टैट्स' होता है। और यही वजह है कि बैजनाथ की मां द्वारा भिजवाये गये घी को वह घृणा के साथ मना करती है। क्योंकि वर्तमान सभ्यता मानव को दूसरों के अहसासों के प्रति कद्र करना नहीं, उसे रौंदना सिख़ाता है।

नगरों, महानगरों में केवल उच्च वर्ग ही नहीं, मध्य एवं निम्न वर्ग की भी स्थिति यही है। क्योंकि वहाँ मानव अपने आपको बंद डिब्बों में कैद करके सखता है। न ही दूसरों की समस्याओं से उनका कोई वास्ता है, और न ही सुख-दुख से। इसीलिए ही बैजनाथ के कमरे में रहनेवाले दूसरे लोग बुखार से तडपनेवाले बैजनाथ का हालचाल भी नहीं पूछता। इस संबन्ध में बैजनाथ कहता है कि-"यहाँ तो सबके अपने काम है। सबका टाइम बँधा है। कोई घर है अपना बहनजी...?"[1]

व्यक्ति की जिंदगी में आज सबसे ज्यादा अहमियत पैसे की है। क्योंकि अगर पैसा है तो सुविधाएं है। पैसों के अभाव में सडना अब किसी को भी मंजूर नहीं है। इसीलिए ही जब बैजनाथ को उसकी पत्नी की मृत्यु के समाचार को लेकर एक पत्र आता है, तब उसके गांव जाने के प्रस्ताव पर कथावाचिका का पति सुभाष कहता है कि-"तसल्ली क्या ख्वाक होगी? हाँ तीन-चार सौ रुपयों पर पानी फेर आने की तसल्ली जरूर हो जाएगी।...अगर मर ही गई हो तो यह क्या उसे जाकर जिला लेगा... और सबसे बढकर इसी महीने के अन्त में कांट्रैक्टर इसकी मज़दूरी बढानेवाला है।"[2]

क्योंकि आज व्यक्ति संबन्धों की निकटता का हिसाब-किताब करना नहीं, केवल लाभ हानी का हिसाब-किताब करना ही जानते हैं। क्योंकि वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों ने उसे यही संस्कृति दी है कि वह अपनी भावुकता को

---

[1] सूर्यबाला- 'भुक्खड की औलाद', 'मानुष गंध', पृ.125

[2] उपर्युक्त, पृ.127

भूलें, अपने विकास के लिए हर किसी को निर्ममता से रौंदें, हर रागात्मक संबन्धों से दूर रहें। सफल जिन्दगी के लिए आज ये सब, सबसे जरूरी शर्तें बन गई है। और बैजनाथ जैसा आदमी ऐसी संस्कृति के बीच घुटता चला जाता है।

निष्कर्ष

नव उपनिवेशवादी संस्कृति, जो भारत में अपनी जडें गहराई में जमा चुकी है, उसकी एक-एक परत को उजागर करने का प्रयास, समकालीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों के ज़रिए किये है। इन कहानियों के पात्र एक व्यापक जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो पाश्चात्य संस्कृति की मायाजाल में फँसा हुआ है। आज हमारी संस्कृति, धर्म, दर्शन, आचार, विचार, सभ्यता सब कुछ बाज़ार की बिकाऊ चीज़ बनकर रह गई है। 'मोर ईज़ बेट्टर' जीवन का मापदण्ड बन गया है। आज मानव का सपना मात्र 'पैसा' एवं 'भोग' में सीमित है।

संपूर्ण कहानियों के अध्ययन के पश्चात् अनेक विचार बिंदु उभरकर आयी है, जो नवऔपनिवेशिक संस्कृति की विभीषिकाएँ है- जैसे

व्यक्ति के जीवन में बाज़ार का बढता महत्व, समाज तथा परिवार से कटकर आत्मकेन्द्रित हो रहे व्यक्ति, व्यक्ति का पैसे एवं भोग के प्रति लालायित होना, मानवीयता से कटकर व्यक्ति का अमानवीयता की ओर प्रस्तान, व्यक्ति के जीवन में यौन के घृणित एवं घिनौने रूप का उदय, कुंठा, कटुता, संत्रास,

विद्रूपता, रिक्तता, टुटन, भटकाव तथा अकेलेपन से व्यक्ति का त्रस्त होना, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के अंधानुकरण से खोखला होता समाज।

नव उपनिवेशिवाद वर्तमान युग की एक विभीषिका बन गई है। बाहरी तौर पर देखने से उसके कुछ प्रयोजन अवश्य है। लेकिन हमारा कर्तव्य है कि हम समाज के लिए अत्यंत आवश्यक हमारे महानतम मूल्यों का संरक्षण करें, जिसका विघटन नवऔपनिवेशिक सभ्यता के कारण प्रतिक्षण हो रहे हैं। अतः आज इसके खिलाफ संघर्ष करने के लिए सबसे पहले दासत्व की दृष्टि से मुक्त होना आवश्यक है। इसके लिए हमें अपने अतीत की ओर पुनः देखने की ज़रूरत है, जहाँ हमने औपनिवेशन से मुक्ति के लिए आज़ादी की लडाई लडी थी।

चौथा अध्याय

नवउपनिवेशवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक विद्रूपताएं : समकालीन उपन्यासों में

भारतीय समाज में अब तक घटी हुई दो विपन्न स्थितियाँ हैं औपनिवेशन और नव-औपनिवेशन। पहले का संबन्ध शरीर से है तो दूसरे का मन, मस्तिष्क और आत्मा से। पहले हम शारीरिक तौर पर गुलामी का अनुभव करते थे, और उससे मुक्ति की चाहत रखते थे, तो अब हँसी-खुखी हम इस मानसिक गुलामी को अपना रहे हैं। औपनिवेशिक समाज का व्यक्ति भारत के नाम पर गर्वित होते थे, तो नवऔपनिवेशिक समाज का व्यक्ति भारत एवं भारतीयता के नाम पर शर्माते हैं। पश्चिम की सभ्यता, पश्चिम का रीति-रिवाज़, और पश्चिम की संस्कृति को बहत्तर माननेवाले एक समाज का निर्माण आज यहाँ हो रहा है। और यह भारत के लिए बहुत घातक स्थिति है। आर्थिक एवं सांस्कृतिक ढाँचे को खोखला बनाने का प्रयास, आज हो रहा है।

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा, उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों के घातक परिणामों के प्रति लोगों को चेताने और अगाह करने का दायित्व समकालीन साहित्यकार पूरी जिम्मेदारी के साथ निभा रहे हैं। साहित्य की कोई भी विधा में - चाहे कहानी हो, कविता हो उपन्यास हो, इससे जुडी हुई भीषण स्थितियों का चित्रण रचनाकार कर रहे हैं। इस समस्या को लेकर लिखी गई उपन्यासों की संख्या भी कम नहीं है। यहाँ मैं ने इस अध्याय के लिए पाँच उपन्यासों को आधार बनाया है- ममता कालिया का 'दौड', चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी' सुरेन्द्र वर्मा का 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' प्रियंवद का 'परछाईं नाच' और लता शर्मा का 'सही नाप के जूते'। इन सभी

उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य पश्चिमी सभ्यता की रंग में रंगकर अपने अस्तित्व से कटनेवाली भारतीय समाज का चित्रण पाठकों के सम्मुख पेश करना ही है।

सुरेन्द्रवर्मा का एक विख्यात उपन्यास है 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता'। भौगोलीकरण के इस युग में सुख सुविधाएँ एवं ऊँची जीवन शैली को प्राप्त करने के चक्कर में दो मर्दों का मुर्दों में परिवर्तन ही सुरेन्द्रवर्मा के इस उपन्यास का मूल कथ्य है। तरक्की एवं समृद्धि का सपना संजोकर मुंबई जैसे बडे शहर में आनेवाली नील माथुर एवं भोला की कहानी के इर्द-गिर्द उपन्यास घूमता है। नील माथुर की ज़िंदगी के दौरान नवऔपनिवेशिक संस्कृति से जन्मे उपभोक्तावादी सभ्यता की एक अलग अपरिचित चेहरे को उपन्यासकार ने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

डॉक्टर शर्मा के अधीत दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध कर रहे नील माथुर के जीवन के गति कुसुम के साथ हुई शारीरिक संबन्ध से बदल जाता है। इस घटना के बाद अकादमिक दुनिया का द्वार उसके सामने बंद होता चला जाता है। अंत में जीवन को नए सिरे से जीने के लिए वह बंबई चला जाता है। वहाँ उसका परिचय भोला से हो जाता है, जो अपनी जीवन नैया को पार करने के लिए मथुरा से मुंबई आया हुआ है।

नील का शरीर और उसका सौदर्य सर्वनाश का कारण बन जाता है। मुंबई पहूँचकर नील, श्रीमती दस्तूर का कंपानियन बन जाता है। वहाँ पर उसका परिचय कुमुद से होता है, जिसके साथ वह शारीरिक संबन्ध में लग जाता है। कुमुद उसे यौन-शिक्षा में पारंगत करा देती है। अतः आज पाश्चात्य प्रभाव

के कारण भारतीयों की जीवन शैली में आए परिवर्तन यहाँ देख सकते हैं। आज सभी तरह की वर्जनाएँ हमारे समाज से खतम होती चली जा रही हैं। आज समाज में खासकर युवा वर्ग में भोग की अनियंत्रित लालसा पनप रही है। नवऔपनिवेशिक समाज में पनप रही देहवादी संस्कृति नील के जीवन के नहस-नहस कर देता है।

कम दिनों में ज्यादा से ज्यादा संपन्न होने की महत्वाकांक्षा के कारण नील की तब्दीली एक पुरुष वेश्या के रुप में हो जाता है। उच्च वर्ग में बहुत सारी अंधेड महिलाएँ ऐसी है, जो अपने शरीर की भूख को तृप्त करने के लिए युवाओं को कितना भी पैसा देने के लिए तैयार है। वर्तमान युवा पीढ़ी को भटकाने में और पुरुष वेश्याओं के निर्माण में इन उच्च वर्गीय सुख लोलुप स्त्रीयों का एक बहुत बडा हाथ है। उपन्यास में भी नील माथुर पैसों की लालच में अधेड महिलाओं के काम को तृप्त करके पैसा जोडने लगता है। और वह सोचता है कि-"तीन दिन में मैं ने मेहताबजी से मिलनेवाले एक मास के वेतन से भी ज्यादा कमा लिया है। उसने उमंग सो सोचा।"[1] आज पैसों की महत्वाकांक्षा ने व्यक्ति को किस कदर गिराया है यह नील माथुर के चरित्र से विधित होता है।

इस बीच नील का परिचय पारुल से हो जाता है, जो अपने वैवाहिक जीवन से खुश नहीं है। दोनों का संबन्ध प्यार में बदल जाता है। लेकिन दूसरी तरफ नील के इस अनैतिक काम से वह थीरे-थीरे थकने लगता है। क्योंकि हर दिन के तीन-चार बुकिंग और हर वक्त ढीली मांस पेशियों और

---

[1] सुरेन्द्रवर्मा -'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', पृ.118

दुर्गंधों से वह ऊबने लगता है। लेकिन अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि देखकर वह खुश होता है। इस लिए अपनी आत्मा को नष्ट करके, उसे कलंकित करके वह इस काम में लगा रहता हैं।

यहाँ उपन्यासकार यह भी दिखाना चाहते हैं कि भरी-पूरी गृहस्थी चलानेवाली स्त्रियाँ अपने पति के होते हुए भी दूसरों के साथ यौन संबन्धों के लिए कितने कसमसाते हैं। नवऔपनिवेशिक परिस्थितियों ने जिस देहवादी संस्कृति को भारत में पनपने दिया है, इसका परिणाम है कि आज स्त्रियाँ भी दैहिक सुखों के पीछे पागल है। ज्यादातर उच्च वर्ग की स्त्रियों में भारतीय संस्कृति का अभाव और पाश्चात्य संस्कृति का ज्यादा से ज्यादा प्रभाव देख सकते हैं। उनमें सही और गलत की चिंता नहीं है। एशो आराम भरी जिंदगी और वैभवपूर्ण परिस्थितियों से ऊबकर वे जीवन को सुखमय बनाने के अन्य रास्ते ढूँढ निकालते हैं। नील शिल्पा नामक स्त्री के बारे में सोचता है- "अगर वह बाहर कहीं सामाजिक समारोह में शिल्पा से मिलता, तो सुहाग-चिह्नों से शोभित और भरी पूरी गृहस्थी से दीप्त इस अधेड स्त्री की सुप्त, जटिल कामनाओं का अंदाज़ लगा सकता था।"[1]

नील का अनुबंध एक मल्टीनैशनल टूरिस्ट ऐजंसी के साथ हो जाता है। वहाँ उसे विदेशी टूरिस्टों को जगह दिखाने के साथ-साथ उनके चाहत के अनुसार शारीरिक संबन्ध भी बनाना है। बहुत सारी फ्रेंच, इंग्लिस महिलाओं के साथ उसका निरंतर शारीरिक संबन्ध हो जाता है। धीरे-धीरे उसका मन उदास एवं

---

[1] सुरेन्द्रवर्मा -'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', पृ.141

क्लांत होने लगता है। लेकिन पारिश्रमिक के अतिरिक्त मिलनेवाली हज़ारों के टिप की क्षतिपूर्ती को सोचकर वह अश्वस्त होता है।

नील और पारुल के संबन्ध का पता पारुल के पति जयंत को लग जाता है। पारुल की जिंदगी से दूर जाने के लिए वह नील को पैसा देता है। वह इसलिए नहीं कि उसके मन में पारुल के प्रति प्यार है। बल्कि मात्र इसलिए कि उसका जायदाद बँट न जाएँ। वह नील से कहता है-"मैं लालच को बहुत पवित्र भावना मानता हूँ... मुझमें बहुत लालच है-अपनी शक्ति बढाने के लिए। आज हमारे उद्योग समूह में सात हज़ार कर्मचारी है। मैं उनकी नियति का नियामक हूँ। अगले कुछ सालों में मैं यह संख्या दुगुनी कर देना चाहता हूँ। पर पासल बीच-बीच में अपनी बहकी बातों से मेरी एकाग्रता तोड देती है। शक्ति बढाने के मेरे तप को भंग कर देती है। ...उसके अलग होने का मतलब तुम जानते हो... हमारे एसैट्स का बँटवारा होगा। मेरी शक्ति एक-तिहाई रह जाएगी।"[1] जयंत की बातों से साफ ज़ाहिर होता है कि आज के पीढ़ी के लिए पत्नी का पती के लिए प्यार भी बोझ बन गया है। उसे यह केवल अपनी आर्थिक उन्नती में बाधा लगते हैं। और पत्नी का बना रहना भी इसलिए चाहता है ताकि पत्नी की संपत्ती भी खुद के हिस्से में आ जाएँ।

धीरे धीरे नील का मन पारुल से भी ऊब जाता है और गायिका नैन के प्रति वह अभिभूत हो जाता है। लेकिन पारुल इस बात को बरदाश्त नहीं कर पाती और नील को वह बर्बाद कर देती है और उसे सलाखों के पीछे कर देती

---

[1] सुरेन्द्रवर्मा -'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', पृ.164

है। लेकिन इस समय उसकी सहायता के लिए कोई नहीं आता। जितनी भी उच्च वर्गीय महिलाओं के साथ उसने शारीरिक संबन्ध बनाया था सब लोग नील जैसे एक पुरुष वेश्या को लोकप से निकालने के लिए तैयार नहीं होती। इस व्यवस्था पर उलाहना देते हुए नील कहता है-"साल में डेठ सौ रुपए के इंक्रीमेंट का रिवायती सस्ता मुझे मंजूर नहीं था। ...इस दुनिया में आंखिरी कसौटी सिर्फ कामयाबी है...हम रंडियाँ तुम्हारे उपभोक्तावादी ढाँचे की उपज है। जहाँ मांग होगी, वहाँ सप्लाई होगी। पेट की ज़रूरत के बिना इस पेशे में कोई नहीं आता।"[1] उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों ने लोगों के मन में शरीर को भोगने की लालसा उत्पन्न की है। लोगों के जीवन का भी अंतिम लक्ष्य भोगना और केवल भोगना बन गया है। वहाँ नील के जैसे पुरुष वेश्याओं और स्त्री वेश्याओं की संख्या में बढोत्तरी होना कोई आश्चर्यचकित बात नहीं है।

अपने पेशे के दौरान नील को ऐडस की ख़तरा भी लग जाता है। लेकिन उसकी मौत पारुल के घरवालों की षडयंत के कारण हो जाती है। उपन्यास में नील और भोला, जीवन में कुछ बनने के लिए बंबई जैसे महानगर आ जाते हैं। मगर एक तो पुरुष वेश्या बन जाता है और दूसरा अंडरवर्ल्ड से संबन्ध जोडता है। उत्तर औपनिवेशिक समाज में व्यक्ति के पास पैसा कमाने के लिए, जितने सीधे रास्ते हैं, उससे भी अधिक टेढे-मेढे अथवा गलत रास्ते हैं। सास्कृतिक तौर पर खोखले बन रहे महानगरों का चित्रण ही उपन्यास में मिलता है। अडरवर्ल्ड के खून ख़राबे से और ढीले स्त्री शरीरों से भोला और नील ज़रूर ऊब जाते हैं,

---

[1] सुरेन्द्रवर्मा -'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', पृ.237

मगर पैसा कमाने की जद्दोजहत ने उन्हें अपने धंधे पर लगा रहने के लिए विवश कर देता है।

विज्ञापन की चकाचौध भरी दुनिया की एक-एक परत को उद्घाटित करनेवाला उपन्यास है चित्रा मुद्गल का 'एक ज़मीन अपनी'। विज्ञापन जगत से जुडी दो सहेलियाँ-अंकिता और नीता के माध्यम से लेखिका ने भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण को अपनानेवाली दो नारियों के विजय एवं विनाश की गाथा कहने का प्रयास किया है। अंकिता विज्ञापन जगत में होते हुए भी, अपनी उन्नति के लिए कभी भी ढेडे रास्ते को इस्तेमाल नहीं करती। वह एक दृढ व्यक्तित्ववाली नारी है। खुद को उँचे दामों पर बिकने के लिए वह कभी तैयार नहीं होती है। मैथ्यू जैसे लोगों द्वारा विज्ञापन जगत में होनेवाले छल-कपट का भी पर्दाफाश उपन्यास के माध्यम से लेखिका करती है। अंकिता जैसी प्रतिभा संपन्न युवती को भी मैथ्यू 'आब्जर्वेशन' से इसलिए बाहर निकाल देता है, क्योंकि उसे अपनी संस्था के विकास के लिए प्रतिभा की नहीं, किसी भी वर्जनाओं से मुक्त चुस्त लडकी की ज़रूरत है। मैथ्यू का एक क्लाइंड जब अंकिता के साथ पार्टी में बदतमीज़ी करता है तो अंकिता बडी सस्ती के साथ उससे पेश आती है और कहती है कि पार्टियों में लडकियाँ बिकने के लिए नहीं आती। क्योंकि अंकिता ऐसी लडकी है, जौ विज्ञापन की दुनिया में जीने के बावजूद भी भारतीय मूल्यों पर विश्वास करती है। लेकिन विज्ञापन जैसी फैशन की दुनिया में लोग हर तरह की वर्जनाओं से मुक्त होकर जीते हैं। बाज़ारीकरण की संस्कृति का उद्भव भी यहीं से होता है। अतः पश्चिमीकरण की दुष्प्रभावों

से त्रस्त है विज्ञापन की दुनिया। वहाँ पर स्त्री केवल बिकाऊ और भोग्या है। वहाँ अंकिता जैसी कम लडकियाँ ही होती है जो अपने मात्र 'देह' बन जाने की संस्कृति से इनकार करती है। और ऐसा करते हुए वे असभ्य समझी जाती है। क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक समाज में सभ्यता का लक्षण बाज़ार के केन्द्र में अपने शरीर को खडा करना है। इसलिए ही मि.सक्सेना मैथ्यू से शिकायत करता है कि- "कैसे-कैसे बेशऊर लडकियाँ भर लेते हो तुम अपनी एजेंसी में, जिन्हें सोसाइटी में उठने-बैठने तक की तमीज़ नहीं।"[1] और अपने शरीर के प्रति रखे गए वर्जनाओं के कारण ही उसे आब्जर्वेशन से बेदखल होना पडता है। जिंदगी के किसी भी विषम परिस्थितियों में भी अपनी संस्कृति में, अपने जीवन मूल्यों में अडिग रहनेवाली अंकिता उपन्यास के अंत तक अपने उसी अडिग व्यक्तित्व में दृढ रहते हुए पाती है।

प्रेम विवाह के पश्चात भी अंकिता सुधांशु के साथ अपना वैवाहिक संबन्ध को इसलिए तोडती है, ताकि वह कतई अपने आत्मसम्मान पर किए जानेवाले चोटों एवं कलंकों को बरदाश्त नहीं कर सकती, चाहे वह अपना पति ही क्यों न हो। वर्तमान नवऔपनिवेशिक दौर में व्यक्ति अपनी जिंदगी को सादगी एवं सरलता से जीना नहीं चाहता बल्कि हर एक दिन उत्सव के समान मनाना चाहता है। सुधांशु भी आयातित उत्तर औपनिवेशिक सभ्यता से इस कदर प्रभावित था कि उसके लिए जीवन की सार्थकता हर दिन ड्रिंक पार्टियों में

---

[1] चित्रा मुद्गल -'एक ज़मीन अपनी', पृ.29

बिताना हो जाता है। और भारतीय संस्कृति के पक्षधर अंकिता के लिए यह संस्कृति पचानेवाला नहीं था। अतः वे एकदूसरे से अलग हो जाते हैं।

एकदम अलग दृष्टिकोण रखनेवाले और व्यक्तित्व में ज़मीन-आसमान का फरक रखनेवाले अंकिता और नीता का प्रगाढ मित्रता उपन्यास का एक अलग पक्ष है। उत्तर औपनिवेशिक समाज का, नितांत भौतिक दृष्टिकोण रखनेवाली, महत्वाकांक्षा से भरपूर युवा वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है नीता। इन वजहों से उसका जीवन उच्छृंखल बनता जाता है। मुंबई जैसे महानगर में जीनेवाली नीता को अपनी माँ का अपने पास आकर रहना भी अखरता है। क्योंकि भूमण्डलीकृत समाज का व्यक्ति, अपने जीवन में किसी की भी आपाधापी पसंद नहीं करता, वह चाहे अपनी माँ ही क्यों न हो। क्योंकि वर्तमान पीढ़ी इस कदर स्वतंत्रता के पक्षधर है कि अपनी जिंदगी में वह हर वक्त एक पंछी की तरह का उन्मुक्त उडान चाहती है। इसलिए वह अंकिता से कहती है-"अजीब भले ही लगे तुम्हें मगर...एक बार आपको अपनी तरह से रहने की आदत पड जाए तो दूसरों की आदतों में जीना घुटन बन जाता है...चाहे वह आपकी माँ ही क्यों न हो।"[1] विज्ञापन जगत में अपनी पहचान बनाने के लिए किसी भी हद तक गिरना उसे मंजूर है। वह किसी को भी अपना हमबिस्तर भी बना सकती है, अपने लक्ष्य को चूने के लिए। अतः अंकिता, जिन वजहों के कारण ओब्ज़र्वेशन की नौकरी छोडती है, उन्हीं वजहों के कारण, उन्हीं लोगों का हमबिस्तर होकर वह आब्ज़र्वेशन में अपनी नौकरी पक्की करती है।

---

[1] चित्रा मुद्गल -'एक ज़मीन अपनी', पृ.20

'फिल्मरस' में अंकिता का सहयोगी मित्र मेहत्ता की जिंदगी भी इस भोगवादी संस्कृति के तहत तहस-नहस होती हुई दिखाई देती है। मेहत्ता की पत्नी कोकिला, मेहत्ता के छोटे भाई के साथ शारीरिक संबन्ध रखती है। भाई के शादी तय होने पर, वह मानसिक तनाव का शिकार बनती है और आत्महत्या कर लेती है।

यौन-संतुष्ठि को जीवन की धुरी माननेवाली कोकिला जैसी औरतें इसकी प्राप्ति के लिए किसी भी तरह की अनैतिक हरकतें करने से नहीं हिचकती। उपभोक्तावादी समाज का व्यक्ति जीवन को जीता नहीं है, बल्कि भोगता है। वह जिंदगी को हर कोणों से भोगने की ललक रखता है। वह संपूर्ण बाज़ार को भोगना चाहता है, रिश्तों को भोगना चाहता है। जिंदगी को भोगते भोगते वह अंत में संबन्धों को निभाना ही भूल जाता हैं।

उपन्यास में लेखिका विज्ञापन जगत में हो रही भाषागत समस्याओं को भी उजागर करती हैं। आज चाहे समाज हो, संस्कृति हो, भाषा हो, हर जगह विदेशी आधिपत्य देखा जा सकता है। इस कारण भारतीयों में 'देसी' के प्रति एक हेय दृष्टिकोण पनप रहा है। विज्ञापन जगत भी इससे भिन्न नहीं है। सारे विज्ञापन मूलरुप में अंग्रेज़ी में तैयार की जाती है। और उसके बाद हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं में इसका अनुवाद किया जाता है। इसका मतलब है कि देशी भाषाओं के कॉपी राइटर्स को अपनी इच्छानुसार कार्यकुशलता के प्रदर्शन करने का अवसर नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि भारतीयों के मन में अंग्रेज़ी श्रेष्ठता के कीडे इस तरह घुसे हुए है कि देश की हर श्रेष्ठ बातें, हर श्रेष्ठ

चीज़ें हमें श्रेष्ठ नहीं दिखायी पडती। केवल अंग्रेज़ी के दो टूक शब्द आ जाने पर हमारे लिए सब श्रेष्ठ होने लगते हैं। यह उत्तर औपनिवेशिक मानसिकता की उपज है। यही कारण है कि हिन्दी पत्रकारिता को भी हम दोयम दर्जे का मानते हैं।

अंकिता के व्यक्तित्व के रोम-रोम में आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान की भावना भरी हुई है। नीता में आत्मविश्वास होते हुए भी आत्मसम्मान का नितांत अभाव है। बहत्तर सुविधाओं एवं बहत्तर पद के पीछे वह निरंतर छलांक मारते हुए चली जाती है। आब्ज़र्वेशन की पक्की नौकरी भी वह मॉडलिंग के लिए छोडती है। उसे बहत्तर से बहत्तर पंद इसलिए प्राप्त होता है कि वह सकसेस के लिए अपने शरीर को किसी के भी हाथों भेजने के लिए तैयार होता है। इसलिए वह अंकिता से कहती है- "महत्वपूर्ण पदों को वे लोग सुशोभित कर रहे हैं, जो सिर्फ ग्लैमरस हैं। यह ग्लैमर की दुनिया है अंकू....। यहाँ जीने की, जी पाने की पहली शर्त है- विशिष्ट दिखना, विशिष्ट करना, विशिष्ट होना, विशिष्ट बनना जो वास्तविक नहीं है।"[1]

नीता का चरित्र बहुत ही लचीला है। वातावरण के अनुकूल वह अपने चरित्र को मोडने में सक्षम है। उसे आधुनिक पोशाकों की सुविख्यात निर्माता कंपनी 'आम्रपाली' की विज्ञापन फिल्म में मॉडल होने का अवसर मिलता है। और इसमें वह लगभग निर्वस्त्र होकर अभिनय करती है। और लोगों की प्रशंसा

---

[1] चित्रा मुद्गल -'एक ज़मीन अपनी', पृ.65

एवं तालियों का पात्र बनती है। विज्ञापन जगत में हमेशा स्त्री की निर्वस्त्र शरीर की मांग होती है। जहाँ पोशाकों का विज्ञापन हों, वहाँ भी स्त्री के शरीर से पोशाकें उतारकर विज्ञापन की जाती है। अपने नग्न शरीर का प्रदर्शन करके आधुनिकता के ढोंग जीनेवाली नीता जैसी औरतें, इस बात से अनभिज्ञ है कि विज्ञापन के ज़रिए, विज्ञापन कर्ताओं द्वारा, उसके शरीर का इस्तेमाल ही होता है। पश्चिमी संस्कृति के अंधानुकरण से स्त्री कभी भी स्वायत्त या आधुनिक नहीं बन जाती। इसका संबन्ध शरीर से जितना है, उससे कहीं ज़्यादा मन से है। और यही बात आज हम भूल रहे हैं। उत्तर औपनिवेशन से उत्पन्न मानसिक गुलामी में जीनेवाले भारतीयों की दुर्बलताओं के प्रति पश्चिमी राष्ट्र वाकिफ है। आधुनिकता की जो भी कसौटी वे सामने रखेंगे, आँख़े मूँदकर हम बिना किसी सवाल के उसका पीछा करेंगे। वर्तमान भारतीय समाज में नीता जैसी नारियों के दिग्भ्रमित होने का यही एक कारण है। संपूर्ण विश्व को पश्चिमीकृत करने के इस कुटिल कार्य का परिणाम यह हुआ कि हम सिर्फ उन लोगों के हाथों की कठपुतलियाँ बनकर रह गए हैं। जिसे वे अपनी इच्छानुसार जैसा चाहें नचा सकते हैं। इस कुचक्र से मुक्ति पाने के लिए हमें उनकी सच्चाइयों के प्रति अवगत होना ज़रूरी है, जो अक्सर नहीं हो पाता। और इस वहम में जीनेवाले लोगों का अंजाम बदतर होता है जैसे उपन्यास में नीता। नीता हमेशा नए-नए संबन्धों की तलाश करती है। पहले अलहूवालिया से, फिल श्रीधर से और फिर सुधीर से वह अपना दैहिक संबन्ध जोडता है। इस संबन्ध के दौरान वह एक बच्ची को भी जन्म देती है। और बाद में मानसिक तनाव के कारण वह नींद की गोलियाँ ख़ाकर आत्महत्या कर लेती है।

नैतिकता को लेकर हमेशा ही अंकिता और नीता के बीच मनमुटाव होता रहता हैं। नीता की आत्महत्या, उसके पश्चिमी भोगवादी सभ्यता की खोखलेपन के पराजय को सूचित करती है। अंकिता स्वाभिमानपूर्ण जीवन जीते हुए जीवन की सफलताएँ शनैः शनै प्राप्त करती है। लेकिन नीता सफलता के पथ पर छलांग मारकर पहुँचना चाहती है, और इसके लिए वह अनैतिक मार्गों को चुनती है। नीता अपने वसीयतनामे में अपनी संपूर्ण संपत्ति बेटी मानसी और अंकिता के नाम करती है। क्योंकि वह जानती है कि उसकी बेटी के लिए सबसे ज़्यादा सुरक्षित स्थल अंकिता की गोदी है जहाँ पर बाज़ारीकृत भोगवादी संस्कृति की छाया भी नहीं पड सकती। अतः अंकिता के नाम लिखी मृत्युपूर्व पत्र में वह कहती है- "अंकू! मानसी-भविष्य की इस स्त्री को तुम्हें सौंप रही हूँ- कुम्हार के हाथों में कच्ची मिट्टी-सी... तुम्हारी ममता की गोद में मानसी अपने अस्तित्व की तलाश पूरी कर सकेंगी- विश्वास है।"[1]

अश्लीलता का आश्रय लेकर किसी भी तरह की उन्नती को न स्वीकारनेवाली अंकिता, वर्तमान उच्छृंखल समाज में एक मिसाल के रूप में खडी हैं। जीवन के किसी भी संदर्भ में वह अपने व्यक्तित्व को लचीला होने नहीं देती। इसलिए ही वह मैथ्यू को धिक्कारते हुए कहती है कि पाँच सितारा होटलों में कंमरा आरक्षित कर वह अपनी या संस्था की विकास नहीं करना चाहती। इतना ही नहीं विकट से विकट परिस्थितियों में भी एक स्त्री होने के बावजूद भी अपनी अस्मिता और अस्तित्व को वह बनाये रखती है। सुधांशु के साथ जिए

---

[1] चित्रा मुद्गल -'एक ज़मीन अपनी', पृ.206

दाम्पत्य के दरमियान, कई बार जलील होने, एवं अपने व्यक्तित्व पर पडे प्रहार को वह सहती नहीं है, बल्कि सुधांशु से संबन्ध विच्छेद करती है। सालों बाद सुधांशु के वापस आने एवं पश्चाताप से भी वह अपने निर्णय पर अडिग रहती है। उसके अनुसार-"औरत बोनसाई का पौधा नहीं है... जब जी चाहा, उसकी जडें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया...वह बौना बनाए रखने की इस साज़िश को अस्वीकार भी तो कर सकती है।"[1]

स्त्री-पुरुष का शादी से पूर्व एक-साथ पति-पत्नी की तरह रहना, वर्तमान सभ्य समाज के लिए आम बात हो गई है। इस 'लिविंग टुगेदर' वाली सभ्यता को नकारनेवाले लोग, इन तथाकथित सभ्य लोगों की नज़रों में असभ्य बन जाते हैं। ऐसा करते हुए आधुनिक नारी भी अपने आपको पुरुष की बराबरी एवं आधुनिकता के अहम जीती है। लेकिन स्त्री के शरीर की इस्तेमाल की राजनीति को समझने में वह नाकामयाब रह जाती है, जैसे उपन्यास में नीता। जीवन मूल्यों को आधुनिकता के नाम पर ध्वस्त करने की प्रवृत्ति आजकल हर कहीं चल रही है। उसे संशोधित करने का प्रयास कहीं से भी नहीं हो रहा है। व्यक्ति को केवल भोग की वस्तु में परिणत करनेवाली यह संस्कृति, एक संक्रामक रोग के घातक कीटाणुओं के समान आज हर कहीं फैल रही है।

प्रियंवद का उपन्यास 'परछाईं नाच' का आधार औपनिवेशिक भारत से लेकर उत्तर औपनिवेशिक भारत तक का है। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र अनहद

---

[1] चित्रा मुद्गल -'एक ज़मीन अपनी', पृ.177

है, जो उत्तर औपनिवेशिक मायाजाल से वशीभूत एक व्यापक जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। उपन्यास में बौना और नुकीले दांतवाला प्रतीकात्मक पात्र हैं। उत्तर औपनिवेशिक समाज के ख़तरनाक तत्वों का प्रतीकात्मक पात्र है बौना। क्योंकि वह दूसरों को बौना दिख़ता है, लेकिन उसकी असलियत वह नहीं है। उस बौने शरीर के पीछे एक विशालकायत्व हैं, जो पढे-लिख़े होने के बावजूद भी अनहद जैसे लोगों की समझ से परे है। अतः चिंगारिया का पत्र बौनों के इस स्वरूप की बहु आयामी पक्षों को उजागर करने वाला है- "विजयी होने के लिए पहला आवश्यक तत्व है कि तुम अपने शत्रु को, हर रूप में, हर स्थिति में पहचानना सीख़ो। उसके हर छद्म को, उसकी हर माया को भी। ये बौने है। ये बहुत मायावी है। अनेक सिर, अनेक हाथ-पैर वाले....थे मायावी कभी-कभी उदार भी दिख़ते हैं। उस क्षण ये उस शेर की तरह होते हैं, जिसका पेट भरा होता है। उसके पास तब हिरण, ख़रगोश सब घूमते हैं। पर वास्तव में ये तब भूख़े नहीं होते हैं। भयानक आकर्षण होता है इनका। इनकी शक्ति, इनके सुख़, इनका उन्माद किसी भी आत्मा को अपने जैसा बना लेता है। हमेशा बहुत सारे लोग, बहुत जल्दी इनकी तरह होना चाहते हैं। इसलिए ये हर क्षण अधिक शक्तिशाली होते जाते हैं।"[1] यहाँ फैंटसीनुमा शैली बौनों की असलियत को सामने लाने की कोशिश की गयी है। यहाँ बौना जो बाज़ारीकरण, उत्तर औपनिवेशन, भूमण्डलीकरण के विकृत तत्वों से निर्मित हुए है, उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानने में आज हम असफल हो रहे हैं।

---

[1] प्रियंवद -'परछाईं नाच', पृ.91

इसीलिए ही चिंगारिया के माध्यम से उपन्यासकार पाठकों को चेताते हैं कि तुम अपनी शत्रु को हर रूप में, हर स्थिति में पहचानना सीखो। क्योंकि बौने की तरह उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियाँ बाहरी रूप में विकराल या विकृत नहीं दिखता, लेकिन यह मानव को आंतरिक रूप से खोखला बना सकता है। चिन्गारिया यह भी बताते हैं कि आज हर व्यक्ति इनकी तरह बनना चाहते हैं, और यही उन्हें ज्यादा से ज्यादा शक्तिशाली बनाते हैं। आज भारत की स्थिति भी यही है, कि हम पश्चिमी देशों को देखकर उनके संस्कार को, उनकी जीवन-शैली को, रहन सहन को अपनाना चाहते हैं। और इसीलिए ही हम भारतीय निर्मित चीज़ों से ज्यादा विदेशी निर्मित चीज़ों को खरीदते हैं। पश्चिमी राष्ट्रों के अनुसरण करनेवाली यही मानसिकता उन देशों को ज्यादा से ज्यादा शक्तिशाली बनाते हैं।

किंशुक अनहद का मित्र है जो इन उत्तर औपनिवेशिक ऊलजलूल परिस्थितियों से वाकिफ है। अतः बौनों की सच्चाई भी उससे छुपा नहीं है। वह यह भली-भौती जानता है कि बौने जैसे साम्राज्यवादी लोग रेल की पटरियों में बसे बस्तियों को खाली करवाने के लिए अनहद के पास क्यों आता है। क्योंकि वे जानते हैं कि इन पढे-लिखे लोगों में संवेदना के क्षेत्र बहुत सीमित है। और अपनी इच्छानुसार किसी भी ढाँचे में उन्हें ढाल सकता है।

'परछाईं नाच' उपन्यास में भौगोलीकरण अथवा बाज़ारीकरण से जुडे हुए त्रासद स्थितियों का परिचय हमें गंगा पानी के विज्ञापन के ज़रिए मिल जाते हैं। अनहद अपने मालिक के कहे अनुसार गंगा पानी भेजने के लिए विज्ञापन तैयार

करते हैं। क्योंकि आज भारत में सबसे बडा बाज़ार पेयजल का है। यह आज एक बडे व्यवसाय के रूप में उभर रहे हैं। स्थानीय कंपनियों से लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कंपनियाँ भी आज बडे पैमाने पर पेयजल की बिक्री कर रही है। उपन्यास में गंगाजल की बिक्री के लिए उसके मालिक के कहे अनुसार अनहद ऐसा विज्ञापन तैयार करता है, जिससे बाज़ारीकरण के क्षेत्र में नए-नए मार्ग खुल जाते हैं। यहाँ यही दिखाया गया है कि अनहद जैसे पढे-लिखे औसत बुद्धिजीवी वर्ग के दिमाग को किस तरह इस्तेमाल किये जा रहे हैं। अनहद का मानना है कि गंगा पानी के विज्ञापन में उसकी शुद्धता के स्थान पर पवित्रता पर ज्यादा बल देनी चाहिए। अनहद की तेज और सजग मस्तिष्क विज्ञापन के ज़रिए पानी की एक नयी ज़रूरत लोगों के लिए पैदा करते हैं। वह कहता है-"हम पानी की एक नई ज़रूरत पैदा करेंगे। हमारा पानी धर्म और आध्यात्म का पानी होगा। मनुष्य को देवताओं के लोक में ले जाने वाला...उसके पुरखों की तडपती, अभिशप्त, अतृप्त आत्माओं को मुक्त करनेवाला होगा। यह पानी हर उस आदमी के लिए ज़रूरी होगा...जिसके घर में कोई मरनेवाला बूढा है... जो बिना गंगा स्नान के भोजन नहीं करता। ... दूसरे शब्दों में वह आदमी यह पानी खरीदेगा जो व्यासा नहीं होगा....इस तरह हम पानी के मूल तत्व, गुण उसकी असली ज़रूरत और करोडों सालों से चले आ रहे रूप, प्यास को ही, अपने पानी से हटा देंगे... यह वह नया विचार है, जिसके साथ हम इस बाज़ार पर हमला करेंगे।"[1] आज गंगा का भी बाज़ारीकरण हो रहा है। यहाँ लोगों का

---

[1] प्रियंवद -'परछाईं नाच', पृ.123

गंगा के प्रति जो भाव है, उसके इस्तेमाल बहुत बुरे तरीके से किए जा रहे हैं। और गंगा पानी भेजनेवाले का इरादा सिर्फ गंगा तक ही नहीं है, इसके बाद वह यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी इस तरह के सभी नदियों की भी पानी भेजना चाहते हैं। और उन सब के लिए विज्ञापन अनहद के द्वारा बनाए जाने का भी आदेश देते हैं। क्योंकि वस्तुओं की संभावनाओं को दूर दूर से ढूँढ निकालनेवाली अनहद के मस्तिष्क से वे परिचित है। और अनहद जैसे औसत बुद्धिजीवी बाज़ारीकरण के आगामी दुष्परिणामों के प्रति अवगत न होने की वजह से ही उनके चलाए हुए रास्ते पर चलते हैं। अनहद जैसे पढे-लिखे लोगों की इसी कमज़ोरी का इस्तेमाल बौने जैसे लोग करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि इनका इस्तेमाल किसी भी उद्देश्य के लिए, किसी भी तरीके से किया जा सकता है। किसी भी साँचे में ढलनेवाले अनहद जैसे लोग ही इन बौनों की शक्ति है, जो उत्तर औपनिवेशिक ताकतों के प्रतीकात्मक पात्र हैं।

पानी के व्यवसाय में आए बढोत्तरी भी एक आश्चर्यचकित बात हैं। यह भारतीयों के मनोभाव में आए परिवर्तन का द्योतक है पहले भारत में इन बोतलों के पानी ख़रीदनेवाले विदेशी पर्यटक या फिर ऊँचे दर्जे में सफर करनेवाले नेता या धनाट्य वर्ग होते थे। इसके अलावा और कोई भी पीने के पानी के लिए आठ-दस रूपए नहीं देते थे। पानी एक ऐसी चीज़ थी, जो सब जगह बिना पैसों के मिलती थी। किसी भी घर से यह मांगा जा सकता था। लेकिन आज लोग इस तरह के पानी पीना नहीं चाहते। आज सभी वर्ग के लोग बोतल का पानी पीकर अपना रोब दिखाना चाहते हैं। वास्तव में शुद्धता के नाम पर पिए

जानेवाले इन बोतलों का रहस्य खोलते हुए अनहद कहता है-"दुनिया के दूसरे देशों में जहाँ इस पानी का मतलब इसमें कुछ विशेष खनिजों का होना है, वहाँ इस देश में इसका मतलब सिर्फ साफ या शुद्ध पानी है। यह शुद्धता किसी भी तरह से लायी और सिद्ध की जा सकती है। सिर्फ झरने का, या स्रोत का या बारिश का पानी भरकर या सिर्फ नल का पानी उबालकर। इसमें कुछ भी गैर कानूनी या धेखा नहीं है। ... सबसे जरूरी प्रक्रियाएं जैसे ओजोनाइजेशन और ओसमोसिस भी कुछ कंपनियों को छोडकर कोई नहीं करता है।"[1] शुद्धता का दावा करके असंख्य लोगों को अशुद्ध पानी पिलानेवाली संस्थाओं के कार्य को अनहद गैर कानूनी या धोखा नहीं समझता। यही बाज़ारी संस्कृति का तंत्र है जो आम आदमी को बुरी तरह फँसाता है। वहाँ पर हर धोखा जायज़ है। यह आश्चर्यजनक बात है कि भारत में शुद्धता के लिए कोई मापदंड नहीं, बल्कि विदेशों की स्थिति यह नहीं है। यही कारण है कि भारत का विदेशी बाज़ार बडे पैमाने पर खुल जाता है, और भारतीय भी भारतीय चीज़ों से ज्यादा विदेशी चीज़ों पर भरोसा करते हैं।

गंगा पानी होने के नाते अनहद का यह दावा है कि यह पानी सभी वर्ग के लोग पिएंगे जैसे अनपढ, गंवार, मजदूर सभी। इतना ही नही वह इस पानी को भारतीय संस्कृति अस्मिता, धर्म, दर्शन से भी जोडता है। वह कहता है- "ईश्वर का दिया हुआ पानी भेजते हुए भी आप महान होंगे। पूँजी लाभ के अलावा यह आपका अतिरिक्त लाभ होगा। आपका व्यापार अन्ततोगत्वा भारतीय

---

[1] प्रियंवद -'परछाईं नाच', पृ.125

संस्कृति ... अस्मिता... धर्म... दर्शन... परंपराओं का प्रतीक बन जाएगा।"[1] यहाँ हम देखते है कि उपयोक्तावादी संस्कृति में भारतीय धर्म, दर्शन एवं सभ्यता को किस तरह इस्तेमाल की जा रही है।

नुकीले दांतवाला सत्ताधारी वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक साम्राज्यवादी ताकतों से मिले हुए है। उत्तर औपनिवेशिक साम्राज्यवादी तत्वों में संपूर्ण दुनिया को अपनी मुट्टी में करने की क्षमता है। यहाँ बौने की तुलना विष्णु के वामनावतार से भी किया जा सकता है। क्योंकि जिस प्रकार वामनावतार का भी जन्म एक छल के लिए हुआ था, उसी प्रकार उत्तर औपनिवेशिक ताकतें भी हमें छल रूपी कुएं में ढकेलने के लिए अग्रसर है। जिस तरह वामनत्व के पीछे विष्णु का विशाल कायत्व छुपा हुआ था, उसी प्रकार बौने के इस स्वरूप के पीछे भी एक बीभत्स विशालकायत्व है। बौना खुद अपने बारे में कहता है-"हम सब जगह है। हम सर्वश्रेष्ठ है। हम अनन्त शक्तियों के मालिक है। एक दिन ब्रह्माण्ड में सब कुछ हमारा होगा। हमारे तीन डंगों में यह अंतरिक्ष, यह धरती, यह पाताल होगा। हम सख्या में बहुत नहीं है, पर पृथ्वी पर फैले इन करोडों लोगों को हम अपनी मुट्ठी में रखेंगे।"[2] बौनों की अनन्त शक्तियों के बयान के द्वारा औपनिवेशिक ताकतों की ओर ही लेखक इशारा करते हैं। बौना अनहद से कहता है कि जो भी व्यक्ति हमारे मानक के अनुरूप दिखता हो, हम उसे अपने पक्ष में कर लेते हैं। यहाँ

---

1 प्रियंवद -'परछाईं नाच', पृ.124

2 उपर्युक्त, पृ.102

बौनों का इशारा उन युवा पीढियों की तरफ है, जो पढे लिखे तो होते हैं, मगर जिनमें एक ठोस दृष्टिकोण का अभाव होता है। किसी भी समस्या के आगामी दुष्परिणामों को देखने में जो असमर्थ होते हैं। लेकिन उनके पास ऐसी खूबियाँ अवश्य होती है जिससे वे लोगों को अपने वश में कर लेते है। अतः इनके दिमाग एवं खूबियों का इस्तेमाल उत्तर औपनिवेशिक ताकतें बेतरदीब ढंग से करते हैं।

बौने आम लोगों से घृणा करते हैं। उनके लिए वे सिर्फ भीड है। लेकिन उस भीड की शक्ति से भी वे परिचित है। इसलिए ही रेल की पटरियों को खाली करने के लिए अपनी शक्ति का इस्तेमाल न करके वे अनहद से सहायता मांगते है। इस बात को वे अनहद के सामने इस तरह पेश करते है कि अनहद को इनका कार्य महान लगने लगता है। वे कहते है कि मिल चलाने के लिए उन्हें रेल की पटरियों पर बनी झोंपडियाँ खाली चाहिए। लेकिन इसके बदले में झोंपडियों में रहनेवालों को मिल में काम, रहने के लिए फ्लैट इस तरह के कई वादे वे अनहद के सामने रखते हैं। अनहद इनके महान उद्धेश्य से अभिभूत हो जाता है, लेकिन अपने मालिक के ज़रिए इनकी सच्चाई अनहद के सामने खुलता है। अनहद का मालिक बौनों के लिए झोंपडपट्टी वालों को समझाने का काम अनहद को सौपता है। और कहता है कि उन्हें इस तरह समझाना होगा कि जो सबसे पहले अपनी झोंपडी खुद के हाथों गिराएगा उन्हें उसी क्रम में पहले नौकरी और पहले घर मिलता जाएगा। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि उन्हें कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। अनहद की शंका पर मालिक कहता है-"यह

कहीं भी रह सकते हैं। यह उनकी समस्या है। ...जैसे इन्होंने रेल की पटरियों के बीच कब्ज़ा किया ऐसे ये नहरों में कर सकते हैं। ... किसी भी खुली जगह पर ये रह लेंगे...दीमकों से तेज...मच्छरों से ज्यादा जंगली बेल की तरह...कोढ की तरह ही ये खुद अपनी जगह ढूँढ लोंगे।"[1] इन झोंपडपट्टी वालों की तरह वर्तमान समाज झूठे सपनों को देखकर जिंदा रहते हैं। इन सपनों को भेजनेवाले औपनिवेशिक ताकतें होती है। अतः आम आदमी जिंदगी भर यह सोचकर खुश रहता है कि एक न एक दिन उसका सपना ज़रूर सच होगा। और इस सोच में ही उसकी जिंदगी खतम हो जाती है।

उपन्यास में 'भय' नामक मनोविकार के अनेक परतों को खोलकर उपन्यासकार पाठकों के सम्मुख रख देता है। भय को हर विकार से भी ज्यादा, भूख से भी ज्यादा शक्तिशाली बताया गया है। अनहद, एक शिक्षित नव युवक होने के बावजूद उसके अन्दर भय के विविध रूप जन्म लेता हुआ हम देखते हैं। वास्तव में यह भय औपनिवेशिक साम्राज्यवादी तत्वों के द्वारा बनायी गई है, जिससे वह आम जनता का भरपूर फायदा उठा सकें। उपन्यास में बौना और नुकीले दांतवाला अनहद के मन में इसी भय के बीज़ बोकर उसकी कमज़ोरियों का फायदा उठाते हैं।

पूरा उपन्यास फैंटसीनुमा शैली में लिखा हुआ है। उपन्यास का अंत भी इससे भिन्न नहीं है। अंत तक आते आते अनहद उत्तर औपनिवेशिक ताकतों की विकराल रूप को समझ पाता है। अनहद के द्वारा इसकी प्रतिक्रिया करने की

---

[1] प्रियंवद -'परछाईं नाच', पृ.183

कोशिश भी होती है। लेकिन तब तक समय बीत चुका होता है। अनहद और किंशुक के अप्रत्याशित अंत से उपन्यास का भी अंत हो जाता है। यहाँ अनहद और किंशुक आज के पढे लिखे शिक्षित युवा वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। जहाँ अनहद में औपनिवेशिक ताकतों के विकरालता को पहचानने और उनके प्रतिरोध करने की क्षमता नहीं दिखता वहाँ किंशुक इसकी असलियत को भली भाँती पहचानते हुए पाते हैं। लेकिन अंत में अनहद के ज़रिए किंशुक को भी अपने जाल का हिस्सा बनाकर साम्राज्यवादी ताकतें उनके अस्तित्व को ही मिटा देती हैं।

ममता कालिया का वर्ष 2005 में प्रकाशित लघु उपन्यास है 'दौड'। आकार में संक्षिप्त होने पर भी विषय की दृष्टि से अत्यंत विस्तृत एवं उत्तर औपनिवेशिक समस्याओं की त्रासद पहलुओं को अत्यंत बारीकी से उजागर करने में सक्षम है यह उपन्यास।

नवऔपनिवेशिक समाज में मानव का जीवन के प्रति नज़रिया बदल गया है। चाहे वह विद्यार्थी ही क्यों न हो। आज का विद्यार्थी यह नहीं चाहता कि पढ-लिखकर कोई प्रशासनिक सेवा में जुट जाएं या फिर कोई डाक्टर या इंजीनीयर बन जाएं, जो एक ज़माने में विद्यार्थी वर्ग का सपना हुआ करता था। आज उसका लक्ष्य मात्र यह होता है कि वे कहीं से भी एम. बी.ए करके बाज़ार के साथ जुड जाएं। क्योंकि आज बाज़ार ही वह जगह है, जहाँ पर हर कोई अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है। क्योंकि आज संपूर्ण विश्व में बाज़ार ही वह जगह है, जहाँ पर व्यक्ति सबसे ज्यादा पैसा कमा सकता है और

सबसे अधिक पैसा ख़र्च भी कर सकता है। भूमंडलीकृत समाज में बाज़ार ज्यादा शक्तिशाली बनता जा रहा है। इसलिए आज व्यापार प्रबंधन में शिक्षा हासिल करके एम. एन. सी में ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त करना ही विद्यार्थी वर्ग का लक्ष्य बन गया है। और इस उद्देश्य की पूर्ती के लिए नगर से महानगर की ओर निरंतर प्रस्तान करता रहता है। 'दौड' उपन्यास में भी ऐसा ही एक परिवार का चित्रण लेखिका प्रस्तुत करती है, जहाँ बच्चे अपनी ऊँची आकांक्षाओं क पूर्ति के लिए महानगरों की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे में जीवन के अंतिम पडाव में पहुँचे हुए माता-पिता किस तरह अकेले पिछड जाते हैं, यही दिखाना उपन्यास का लक्ष्य है।

उपन्यास में राकेश और रेखा उन तमाम माता-पिता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो बच्चों की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्हें खुद से दूर विदेश भेजते हैं, और उनके वियोग में तडपने के लिए अभिशप्त है। उपन्यास में रेखा और राकेश के दोनों पुत्र पवन और सघन अपनी शिक्षा एवं नौकरी के लिए महानगरों में जाकर बसते हैं। एम. बी.ए के अंतिम वर्ष में ही पवन का चयन भाईलाल कम्पनी के एल.पी.जी यूनिट में सहायक प्रबन्धक के रूप में हो जाता है। रेखा और राकेश के चाहने पर भी वह एम.बी.ए के बाद अपने शहर में नौकरी नहीं ढूँढता। वह कहता है कि- "यहाँ मेरे लायक सर्विस कहाँ? यह तो बेरोज़गारों का शहर है। ज्यादा से ज्यादा नूरानी तेल की मार्केटिंग मिल जाएगी।"[1] नवऔपनिवेशिक समाज ने युवा वर्ग के सामने अर्थ एवं ओहदे का

---

[1] ममता कालिया- 'दौड', पृ.11

जो शिखरचुंभी सपना परोसा है, उसके आगे व्यक्ति घर, परिवार और अपने प्रदेश को ढोकर मारकर आगे बढने में हिचकते नहीं है।

यहाँ पवन जैसे युवक का भाईलाल कम्पनी में सहायक प्रबन्धक के रूप में काम करना कदापि इस कारण नहीं है कि वह अपनी संस्था के प्रति निष्ठा एवं लगाव रखता है। बल्कि इसके पीछे उसका लक्ष्य मात्र खुद का हित साधन होता है। अतः पवन भी उत्तर औपनिवेशिक समाज के उस असंख्य युवाओं का प्रतिनिधित्व करता है जो ऊँचे वेतन और उच्च ग्रेड के लिए अपनी संस्था को ठोकर मारते हुए दूसरी कम्पनी ज्वायन कर सकता है, या फिर अपने प्रतियोगी कम्पनी ज्वायन करने में भी इस तरह के लोग हिचकते नहीं है।

आज हम गाँव एवं नगर को लूट-लूटकर महानगरों को भरने की कोशिश कर रहे हैं। गाँव में कम पैसों में मिलनेवाली मामूली चीज़ भी आज महानगरों की मॉल संस्कृति में बहुत ही आकर्षक सुसज्जित एवं एयरकेडीशन्ड कमरों में हमें बढिया दामों में मिलते हैं। और इन चीज़ों को खरीदनेवाले वर्तमान भारत के उच्चवर्ग एवं मध्य वर्ग है। वे इन चीज़ों को खुले बाज़ार से न खरीदकर मॉल से खरीदने के पीछे अपने रोब दिखाने का ही मकसद है। महानगर में पहुँचने पर पवन इन सभी बातों से आश्चर्य चकित है। वह सोचता है-"नए शहर में सब कुछ नया है। यहाँ दूध मिलता है, मगर भैंसें नहीं दिखती। कहीं साइकिल की घंटी टनटनाते दूधवाले नज़र नहीं आते। बडी-बडी सुसज्जित डेरी शॉप है,

एयरकंडीशंड जहाँ आदमकद चमचमाती स्टील की टंकियों में टोंटी से दूध निकालता है। ठंडा पास्चराइज़्ड।"[1]

आज कल यह स्टैटस का प्रश्न बन गया है कि फूल, सब्जी सब कुछ देशी नहीं बल्कि विदेशों से आयातित चीज़ों को इस्तेमाल करने में इतराते है। भारत में अब तो यह गर्व का विषय बन गया है। उपन्यास में पवन प्लास्टिक के गेंदों के समान दिखनेवाली टमाटरों को देखकर आश्चर्यचकित होता है और सोचता है कि क्या टमाटर भी भारत में एन.आर.आई हो गया है। अतः आज भारत में हर एक चीज़ का भूमण्डलीकरण हो रहा है। और विदेशी चीज़ों को इस्तेमाल करना गर्व का विषय बन गया है। इसलिए ही हमें आज हमारे आंगन के कूडे करकट में उगनेवाली लाल और रस से भरपूर टमाटर नहीं चाहिए बल्कि विदेशों से आयातित बेजान और बनावटी टमाटर महेंगी दाम देकर बाज़ारों से ख़रीदते हैं। जिस तरह ये टमाटर बाहर से सुन्दर दिखने पर भी अन्दर से रसशून्य है, उसी प्रकार है पश्चिमी मार्ग का अनुसरण करनेवाले उत्तर औपनिवेशिक समाज की स्थिति भी। क्योंकि बाहर से वर्तमान समाज स्वच्छ और सुन्दर दिखता है। लेकिन अंदर से उतनी हो शुष्क एवं आत्मा को निचोडनेवाला है।

उत्तर औपनिवशिक समाज में बाज़ार भी एक संस्कृति के रूप में उभर रही है। जहाँ पहले लोग केवल सामान ख़रीदने के लिए जाया करते थे, वहाँ आज लोग विश्राम और आराम के लिए, मनोरंजन के लिए, मनबहलाव के लिए जाने लगे हैं। अब यह लोगों का शौक एवं दिनचर्या बन गया है। अवकाश

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.17

मिलने पर आज के युवा वर्ग पर्यटन केन्द्रों में नहीं जाते बल्कि मॉलों में जाना अधिक पसंद करते हैं। और वहाँ से वे अपनी ज़रूरी और गैर ज़रूरी चीज़ों को भी ख़रीदते जाते हैं। उपन्यास के नौजवान भी इन्हीं नवऔपनिवेशिक आदतों एवं संस्कारों के शिकार हैं।

उपन्यास में पवन का दोस्त रजविन्दर प्रदूषण पर प्रोजक्ट तैयार कर रहा है। लेकिन उसका उद्देश्य न तो प्रदूषण को कम करने का मार्ग खोजना है, और न ही लोगों को चेतना है, बल्कि वह यही चाहता है कि ज्यादा से ज्यादा हवा प्रदूषित हो। क्योंकि उसकी कम्पनी एक हवा शुद्धीकरण यंत्र बना रहा है, और हवा के प्रदूषित होने से उसका और कम्पनी का लाभ हो सकता है। यहाँ मानवीयता को भूलकर आत्मकेंन्द्रित बन रहे युवा वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है रजविन्दर भी।

कला के प्रति भी महानगरीय लोगों का दृष्टिकोण किस तरह बदल गया है यह भी उपन्यास में दिखाया है। जीवन में हर वक्त बेहत्तर की दौड में रहने के कारण सांस्कृतिक कार्यक्रमों का भी आस्वादन संजीदगी के साथ करने की क्षमता अब लोगों में नहीं है। उसी तरह साहित्य के प्रति भी लोगों की रुचि कम होती जा रही हैं। क्योंकि वर्तमान भागदौड भरी जिंदगी में किसी के पास भी समय नहीं है- न तो साहित्य कृतियाँ पढने की न एक-दूसरे से बातें करने की और न ही दूसरों के सुख-दुःख को देखने की। इस कारण वर्तमान समाज का सामाजिक सरोकार कटता जाता है। उपन्यास में साहित्य प्रेमी माता-पिता के पुत्र होने के बावजूद भी पवन के पास किताबें पढने के लिए समय नहीं है।

अतः वह सोचता है- "अध्ययन के लिए अब अवकाश भी नहीं था। कंपनी की कर्मभूमि ने उसे इस युग का अभिमन्यु बना दिया था।"[1] अतः आज के युवा पीढ़ी में से भावुकता, मानवीयता, सहज-प्रेम जैसी भावनाएँ समाप्त होने का यही मुख्य कारण है।

आज कल के बच्चे भी किस तरह बाज़ार से प्रभावित है इसका दृष्टांत पवन का मित्र अभिषेक के बेटे के द्वारा मिलता है। अंकुर के जैसे उत्तर आधुनिक समाज में पलनेवाला बच्चा पार्क में जाना नहीं बाज़ार में घूमता अधिक पसंद करता हैं। बाज़ार का चकाचौंध ने बच्चों को भी इतना आकर्षित कर लिया है कि उन्हें चिडियाघर में जाकर भालू, खरगोश आदि को देखने से ऊबाहट होने लगती है। जानवरों, पशु-पक्षियों से आज की पीढ़ी का संबन्ध कटता जा रहा है। और बाज़ार से भी आज के बच्चों को गुड्डे-गुडियाँ नहीं चाहिए, बल्कि पिस्तौल जैसी चीज़ें चाहिए, जिससे वह सबको भून सकें। अतः आज कल बच्चों में बढनेवाली अक्रामकता के लिए वर्तमान परिस्थितियाँ ही जिम्मेदार है।

वर्तमान भारत के मां-बाप की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। आज माँ बनने को कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं समझता। और न ही मातृत्व पर कोई अभिमान करता है। बल्कि उत्तर औपनिवेशिक संस्कृति को पानेवाला व्यक्ति यही समझता है कि शादी करना और बच्चे पैदा करना एक बडी नामझी और बेवकूफी है।

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.25

क्योंकि वर्तमान समाज का मूल मंत्र है- 'डबल इनकम नो किड्स' अर्थात् दोहरी आमदनी और बच्चे नहीं। क्योंकि आज के युवा पीढ़ी के लिए बच्चे होने का मतलब है पिछड जाना। उपन्यास में अंकुर की मां राजुल की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। क्योंकि नवऔपनिवेशिक समाज का व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधाओं को ही जीवन का लक्ष्य समझता है और महानगरों में ऐसी जिंदगी जीने के लिए दोहरी आमदनी की ज़रूरत है। ऐसे में लोग बच्चे पैदा करके अपनी ऐशो आराम भरी जिंदगी में बाधा नहीं डालना चाहता।

वर्तमान बाज़ारतंत्र ने किस तरह उपभोक्ताओं को मूर्ख बनाकर चीज़ों को भेजते हैं, इस सच्चाई की अभिव्यक्ति अभिषेक के शब्दों से होता है- मैं ने आई-आई.एम में दो साल भाल नहीं झोंका। वहाँ से मार्केटिंग सीखकर आया हूँ। आई कैन सैल ए डैड रैट।"[1] बाज़ार के अर्थशास्त्र में नैतिकता का कोई अहमियत नहीं है। नैतिकता को तिलांजली देनेवाले एक युवा समाज का निर्माण आज हो रहा है। अतः पवन कहता है- "दरअसल बाज़ार के अर्थशास्त्र में नैतिकता जैसा शब्द लाकर, राजुल तुम सिर्फ कनफ्यूज़न फैला रही हो। मैं ने अब तक पाँच सौ किताबें तो मैनेजमेंट और मार्केटिंग पर पढी होंगी। उनमें नैतिकता पर कोई चैप्टर नहीं है।"[2]

आज विज्ञापनों के ज़रिए कंपनियाँ जो कुछ भी दिखाती है या दावा करती है, उनमें कोई वास्तविकता नहीं है। अतः अभिषेक इस विज्ञापन की

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.37

[2] उपर्युक्त, पृ.39

सच्चाई को उजागर करते हुए कहता है कि- "सच्चाई तो यह है कि मॉडल लीना भी स्पार्कल इस्तेमाल नहीं करती। वह प्रतिद्धन्द्धी कम्पनी का टिक्को इस्तेमाल करती है। पर हमें सच्चाई नहीं, प्रौडक्ट भेजनी है।"[1] चीज़ों के मार्केटिंग और विपणन के लिए विज्ञापनों में झूठ के ऊपर झूठ बोलनेवाली संस्थाओं की होड लग गई है। विज्ञापनों के द्वारा जनता की उम्मीदों को बढाकर उनका पैसा खर्च करवाते है और वे अपना लाभ भी ऐंढते हैं।

नवऔपनिवेशिक समाज के युवा वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है पवन। जो अपने माँ-बाप के चाहने पर भी इलाहाबाद जैसे अपने शहर में नहीं रहना चाहता। और न ही वह कलकत्ता या दिल्ली जाना चाहता है। क्योंकि उसके अनुसार शहर का केवल महानगर होना काफी नहीं है, वहाँ उपभोक्तावादी संस्कृति का भी होना ज़रूरी है। वह पिता से कहता है- "मैं ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ, जहाँ कल्चर हो न हो, कंस्यूमर कल्चर ज़रूर हो। मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।"[2]

महानगरों में नवऔपनिवेशिक पश्चिमी सभ्यता के कारण व्यक्ति देश में रहकर भी विदेशी बनता जा रहा है। अपने घर में रहकर जिस माँ के खाने को बेटा चाव से खाता था, आज वहीं उसे पिज़ा और बर्गर के आगे खटिया लगने लगता है। उपन्यास में पवन जो अपने घर के नल से आनेवाली गंगा जल की पवित्रता का बयान करते हुए गद्‌गद कंठ होता था, आज वहीं घर में पीने के

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.37

[2] उपर्युक्त, पृ.37

लिए मिनरल वाटर की बोतलें मंगवाता है और अपनी पुरानी भावनाओं को केवल भावुकता कहकर टुकराता है। उत्तर औपनिवेशिक परिवेश को अपने जीवन का हिस्सा बनानेवाला पवन एक-दो दिन के लिए अपने घर का वातावरण जहाँ पर वह पला-बढा था, बरदाश्त नहीं कर पाता। वह पिता से कहता है कि- "सच तो यह है पापा, जहाँ हर महीने वेतन मिले, वही जगह अपनी होती है, और कोई नहीं।"[1] यहाँ लोगों का अर्थतंत्र के आधार पर जीवन को देखने परखने की प्रवृत्ति का उद्‌घाटन लेखिका करती है। आज नवऔपनिवेशिक परिस्थितियों की वजह से अर्थ केंन्द्रित जीवन दर्शन को प्रश्रय मिला रहा है।

आज व्यक्ति अपनी जिंदगी का फैसला खुद करता है। उपन्यास में पवन भी स्टैला से शादी करने का फैसला खुद करता है, जो डिमैलो-एंटरप्राइज़ कार्पोरेशन के पार्टनर है। स्टैला के माता पिता जो शिकागो में रहते हैं, उनके लिए अपनी बेटी द्वारा लडका पसंद करना और उनकी गैर मौजूदगी में शादी करना आम बात है। लेकिन भारतीय संस्कृति में भारतीय परिवेश में जीनेवाले पवन के मां-बाप के लिए यह सहज बात नहीं है। अतः शादी की खबर पाते ही रेखा पवन से मिलने आती है तो पाती है कि स्टैला सिर्फ पवन का बिज़नेस पार्टनर ही नहीं, शादी के पहले ही रूम पार्टनर और लाइफ पार्टनर बन चुकी है।

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.45

शादी जैसे अहम मौके के लिए भी आज की पीढ़ी के सामने वक्त नहीं है। अतः पवन कहता है- "हम अगले महीने शादी कर लेंगे... हमारे एजेंडा पर बहुत सारे काम हैं। शादी के लिए हम ज्यादा से ज्यादा चार दिन खाली रख सकते हैं।"[1] और शादी में भी अपनी मां-बाप की उपस्थिति या आशीर्वाद से ज्यादा ऐसे आत्मीय गुरुओं के आशीर्वाद को वे महत्व देते है, जिनका वे परम भक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि उत्तर आधुनिक समाज का व्यक्ति विश्वासी नहीं है, हर विश्वास को ठोकर मारते हुए वे अंधविश्वासी बनते जा रहे हैं। चंद क्षणों में सफलता प्राप्त करने के लिए, आत्मीय शांती की खोज में वे अंधविश्वासी होते जा रहे हैं, जैसे उपन्यास में पवन। वह शादी गुरुजी के आश्रम में, गुरुजी के बताए मुहूर्त पर करता है, और मां-बाप को भी वहीं बुलाता है।

आज पति-पत्नी बनने के बाद एक दूसरे के साथ वक्त बिताने के लिए लोगों के पास समय नहीं है। शादी को भी एक रस्म की तरह निभाकर तेज रफ्तारवाली जिंदगी में वे भागते रहते हैं। आज पति-पत्नी के बीच सहवर्तित्व या सहयोग की भावना नहीं के बराबर है। इसलिए ही पवन शादी के कुछ दिनों बाद ही तरक्की को लक्ष्य करके चैन्ने चला जाता है, तो स्टैला अहमदाबाद रहती है। अतः वर्तमान समाज में परिवार की संकल्पना मिटती चली जा रही है। पहले संयुक्त परिवार की संकल्पना थी, बाद में यह स्थिति बदलकर अणु परिवार में तब्दील हो गयी तो अब 'परिवार' मात्र एक संकल्पना बनकर रह गयी है। क्योंकि आज की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि नौकरी की ज़रूरतों के लिए, अर्थ

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.57

की प्राप्ति के लिए पती-पत्नी अलग-अलग दो भिन्न शहरों में रहते हैं। महीने में या साल में एक-दो बार वे आपस में मिलते हैं और बच्चों को भी बॉडिंग में भेज देते हैं। अतः आज परिवार की संकल्पना ही टूटने के कगार पर खडी है जहाँ पति-पत्नी को एक साथ जीवन बिताने के लिए समय नहीं मिलता।

नवऔपनिवेशिक परिस्थितियों की वजह से आज व्यक्ति के अंदर एथिक्स, मोरेलिटी जैसी चीज़ें नष्ट हो गई है। आज व्यक्ति अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी को भी धोखा देना गलत नहीं समझता। इसलिए वेतन वृद्धि के लिए आज की युवा पीढ़ी एक के बाद दूसरी कंपनियाँ बदलती रहती हैं। अतः अपने पिता की बातों से रूढकर पवन कहता है- "मेरे हर काम में आप यह क्या एथिक्स, मोरैलिटी जैसे भारी भरकम पत्थर मारते रहते हैं। मैं जिस दुनिया में हूँ, वहाँ एथिक्स नहीं, प्रोफेशनल एथिक्स की ज़रूरत है।"[1] अतः उत्तर औपनिवेशिक समाज में व्यक्ति का प्रोफेशनल एथिक्स यहीं है कि स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी को भी ठोकर मारकर आगे बढते रहना। यही कारण है कि आज संवेदनहीनता, नवऔपनिवेशिक समाज की सच्चाई बन गई है। आज की दुनिया में न तो एम. एन. सी. वाले कर्मचारियों के प्रति कोई मानवीयता का व्यवहार करते हैं और न ही कर्मचारियों का संस्था के प्रति कोई 'कमिटमेंट' होता है। इस लिए ही पवन और उसके सहयोगी कर्मचारी अपनी कंपनी के डूबते समय, कंपनी को कगार पर ले जाने के बजाय, दूसरी मल्टी नैशनल

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.66

कंपनियाँ ज्वायन करते हैं, जहाँ पर इससे भी ज्यादा सुविधाएँ और वेतन प्राप्त हो।

वर्तमान पीढ़ी की स्वार्थता, भागदौड सब, हमारे सामाजिक परिवर्तन का परिणाम है। उन्हें स्वार्थी एवं आत्मकेंन्द्रित बनाने में वर्तमान परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी है। हर माता-पिता यहीं चाहते हैं कि बच्चे विदेश में जाकर ज्यादा से ज्यादा वेतन प्राप्त करें। लेकिन जब वृद्धावस्था आ जाती है तब उन्हीं बेटे-बेटियों को अपने पास पाने की इच्छा करना, कहाँ तक न्यायोचित है, यह सोचनेवाला विषय है। इसलिए ही पवन मां-बाप के सामने यह तर्क पेश करता है- "सभी मां-बाप अपने बच्चों को भौतिक अर्थों में कामयाब बनाना चाहते हैं। ताकि कोई उन्हें फिसड्डी न समझें। .... आपके ऊपर इन तन अक्षरों का कैसे जादू चढा था, एम.बी.ए। आपको उस वक्त लगा था कि अगर आपके लडके ने एम.बी.ए नहीं किया तो आपकी नाक कट जाएगी....आपने मुझे ऐसे समुद्र में फेंक दिया है, जहाँ मुझे तैरना ही तैरना है।"[1] तात्पर्य यह है कि कामयाब संतानों के माता-पिता जिनके बच्चे विदेशों में है, उनके चेहरे पर हर समय भय और आशंका छाया रहता है। अतः आज बच्चों की सफलता माता-पिता के लिए सन्नाटा बन गयी है। पवन का छोटा भाई सघन भी सोफ्टवेयर की परीक्षा उत्तीर्ण कर दिल्ली में एक कोर्स ज्वायन करता है। इसके बाद वह मां-बाप से राय-मशमिरा किए बगैर ही तायवान की एक कंपनी में नौकरी के लिए चला जाता है। दोनों बेटों को अपने से दूर कर रेखा और राकेश अकेलेपन का

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.67

शिकार होता है। वर्तमान पीढ़ी को विदेशों में रहने का चस्का इस तरह लग गया है कि वह कभी भी अपना घर और देश वापस लौटता नहीं है। ज्यादा से ज्यादा एशो-आराम की तलाश में भटकनेवाली यह युवा पीढ़ी ज़िंदगी भर उसकी प्रप्ति की कोशिश में लगी रहती हैं। ज़िंदगी भर भौतिक सुख सुविधाओं की पूर्ति की कोशिश करने के बावजूद भी जिंदगी की ख्वालीपन को भरने या जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करने में वे असमर्थ रह जाते हैं।

आजकल भारत के समान्यतया सभी मोहल्ले, इलाके एवं कॉलनियाँ बुजुर्ग इलाके बन गए हैं। हर घर में अब बृद्ध माता-पिता और कुछ पालतू जानवर रह गए हैं। उनके पास कहने के लिए तो अपने और बच्चों की सफलता की कहानियाँ है, लेकिन दूसरी तरफ उनका जीवन शून्यता से भरा हुआ होता है। वृद्ध माता-पिता के सुख दुःख का कोई असर विदेशों में ऐशो-आराम से जीनेवाले बेटों पर नहीं पडता। उपन्यास में उनके पडोसी सोनी साहब की मृत्यु अचानक दिल का दौरा पडने से हो जाती है, तब विदेश में रहनेवाला बेटा अपनी व्यस्तता की कथा सुनाकर मां से कहता है कि- "आप ऐसा कीजिए, इस काम के लिए किसी को बेटा बनाकर दाह-संस्कार करवाइए। मेरे लिए तेरह दिन रुकना मुश्किल होगा। आप सब काम पूरे करवा लीजिए। मज़बूरी है मम्मा। मेरा दिल रो रहा है। मैं आपकी मुसीबत समझ रहा हूँ। और घर अनजान लोगों के लिए खुला मत छोडिएग। इंडिया में अपराध कितना बढ गया है, हम बी.बी.सी पर सुनते रहते हैं।"[1] अतः मिसेस सोनी पडोसी के लडके से

---

[1] ममता कालिया -'दौड', पृ.81

पति के भौतिक शरीर को मुख्राग्नि देने के लिए मज़बूर हो जाती है। यह केवल मिसेस सोनी की नहीं है, अपने बच्चों को ऊँचाइयों की शिखरों पर देखने की अरमान संजोकर रखनेवाले हर एक माता-पिता की स्थिति इससे भिन्न नहीं होंगे। क्योंकि आज के व्यवसायोन्मुख शिक्षा पाकर युवा वर्ग ज्यादा से ज्यादा वेतन इच्छा को लेकर विदेशों में चले जाते हैं, या फिर एम. एन. सी ज्वायन करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में उनके बाकी की ज़िंदगी केवल ऊँचाइयों की प्राप्ति करने के जद्दोजहत में बीतती है। और ऐसे में वे लोग घर, परिवार, पति, पत्नी, बच्चे सभी को भूल जाते हैं। यही उत्तर औपनिवेशिक समाज की सच्चाई है कि व्यक्ति-व्यक्ति के अंदर से मानवीयता नामक चीज़ नष्ट होती जा रही हैं। अतः इस लघु उपन्यास के दौरान ममताजी समय की सच्चाई को उकेरकर पाठकों के सम्मुख लाने में सफल हुई है।

आज हम उत्तर आधुनिक समाज में जी रहे हैं। जहाँ हर समाज एवं व्यक्ति भूमण्डलीकरण, नव पूँजीवाद, बाजारीकरण, नव औपनिवेशन, उदारीकरण एवं उपभोक्तावाद से ग्रस्त है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की जिन्दगी हर कहीं उच्छृंखलता, तनाव एवं निजी स्वार्थ से भर गया है। अतः उत्तर आधुनिक समाज में व्यक्ति परिवार एवं समाज के बीच का फासला निरंतर बढ़ता जा रहा है। आदमी धीरे-धीरे स्वयं से और दूसरे मानवीय संवेदनाओं से असंपृक्त होता जा रहा है। दूसरे मनुष्यों का अस्तित्व उसके लिए सिर्फ उपयोगी या फिर अनुपयोगी रह जाता है-चाहे वह माता, पिता, पति, पत्नी या बच्चे ही

क्यों न हो। यह संवेदनहीनता ही 'धन' और 'सत्ता' को प्राप्त करने की पहली सीढी है और यही उत्तर औपनिवेशिक समाज की पहली शर्त है।

लता शर्मा का उपन्यास 'सही नाप के जूते' की नायिका उर्मी अथवा उर्वशी एक मध्यवर्गीय परिवार से है। जिसकी जिंदगी में अन्तहीन महत्वाकांक्षा की नींव उसकी माँ द्वारा डाली जाती है। इस महत्वाकांक्षा के बलबूते उर्वशी एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार से ऊपर उठकर मिस इंडिया, मिस वर्ल्ड और फिर फिल्म स्टार तक बन जाती है।

उर्वशी की माँ उसका नाम उर्मी से उर्वशी बना देती है क्योंकि उर्वशी नाम में एक विलासिता का अहसास है, सौंदर्य का आभास है और अनूठा आकर्षण है। क्योंकि उर्मी नाम में वो आकर्षण नहीं है जो उर्वशी नाम में है और बिना आकर्षण के किसी का भी बाजार में कोई मांग नहीं होता। पढ़ने-लिखने में तेज होने के बावजूद भी वह अपनी बेटी को कोई इंजिनीयर या डाक्टर बनाना नहीं चाहती बल्कि मिस इंडिया या मिस वर्ल्ड बनाना चाहती है। क्योंकि वह एक इंजिनीयर या डाक्टर बनकर उतना पैसा नहीं कमा सकती जितना मिस इंडिया या मिस वर्ल्ड बनकर कमा सकती है। इसलिए उर्मी की माँ उसके शरीर को सुन्दर बनाने की जी तोड कोशिश करती रहती है। वह अपने बेटे पर उतना ध्यान नहीं देती जितना उर्मी पर। क्योंकि वह भली-भांति जानती है कि उसकी सुन्दर बटी उर्मी सोने की अंडा देनेवाली वह मुर्गी है, जिस पर निवेश करनेवाला पैसा और मेहनत का लाभ उसे जरूर मिलेगा। क्योंकि बाजार में सुन्दर स्त्री शरीर की मांग है, पुरुष शरीर का नहीं।

देह को तराशने की इसी कोशिश के कारण ही युवावस्था में पहुँची अपनी बेटी को निर्वस्त्र करके उसके शरीर पर राख लपेटती है, ताकि उसके शरीर में रोएं नहीं निकल पाएँ। इतना ही नही बेटी के नग्न शरीर पर मालिश करके बहुत सारे संसाधनों से उसे नहाने का काम भी वह खुद करती है। इसके साथ-साथ सुबह से शाम तक बहुत सारे उबटन-उपचार, कसरत और दूध-बादाम, घी-हल्दी आदि सब कुछ उसे देती है। इस कारण मन पसंद खाना या सोना उर्मी को नसीब नहीं होती, क्योंकि उसे कुछ बनना है। लेकिन उसका छोटा भाई इन सबसे पूर्ण रूप से मुक्त है, क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक समाज में स्त्री का शरीर अर्थ कमाने का प्रमुख साधन है, पुरुष का नहीं। अतः यहाँ के बाजार में सबसे ज्यादा बिकनेवाली चीज भी स्त्री का शरीर है। बाजार में उसके देह का मूल्य है और उसी मूल्य को प्राप्त करने की कोशिश उर्वशी की माँ उर्वशी के ज़रिए करती है।

उत्तर आधुनिक समाज में स्त्री की यही धारणा रही कि उसका शरीर और उसका सौंदर्य उसकी अपनी पूँजी हैं और उसे सही जगह निवेश करने में ही उसकी बुद्धिमत्ता है। उपन्यास में उर्मी की माँ भी उसे यही शिक्षा देती है कि क्लास में फस्ट आना, उत्कृष्ट मस्तिष्क होना तक काफी नहीं है। क्योंकि इससे तो कलक्टर, टीचर जैसी अच्छी नौकरी प्राप्त कर सकती है, लेकिन इन सबसे रातों रात मालामाल नहीं हो सकते। इसीलिए ही वह अपनी बेटी से कहती है

कि- "केवल ख़ूबसूरती के बल पर मधु सरकार मिस इंडिया बन रातों रात लखपति बन गयी। फिल्मों में चान्स मिल गया और करोडों कमाने लगी।"[1]

उर्मी की माँ उसे हर वक्त यही सलाह देती है कि आर्थिक उन्नति के लिए कुछ भी करना समीचीन है। माँ कहती है-"जो भी हो रहा है उसे सहन करो। कुछ बनने के लिए जाने क्या-क्या सहन करना पडता है।" यहाँ कुछ बनने का तात्पर्य नैतिक रूप से उन्नति प्राप्त करना नहीं बल्कि सिर्फ आर्थिक उन्नति है, और वह भी शारीरिक तौर पर प्राप्त करने योग्य आर्थिक उन्नति है। उर्मी को अपनी माँ से एक भी ऐसा उपदेश प्राप्त नहीं होती जिससे उसका नैतिक स्तर ऊपर उठ जाएँ। बल्कि वह नैतिक पतन के लिए हेतुभूत कुसंस्कारों से उर्मी का दिमाग भर देती है।

उर्मी की माँ सरकारी स्कूल की अध्यापिका होने के बावजूद भी अपनी हालत से ख़ुश नहीं है। क्योंकि उनके विचार में एक औरत को, कामकाजी होने के बावजूद भी रसोई और घर को संभालकर सड जाना पडता है। लेकिन वह इस तरह सडना नहीं चाहती और एक साफ सुथरी जिंदगी जीना चाहती है। इस तरह की नव पूँजी केंद्रित मानसिकता ने उत्तर आधुनिक समाज की हर एक व्यक्ति को बुरी तरह से जकड लिया है। यहाँ हर किसी का मूल्यांकन पूँजी के आधार पर होता है। और हर कहीं पूँजी का एकछत्र स्थापित हुआ है। इसीलिए ही उत्तर आधुनिक समाज की उत्तर औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त

---

[1] लता शर्मा -'सही नाप के जूते', पृ.43

स्त्री कदापि यह नहीं चाहती कि उसके शरीर, श्रम, सोंदर्य और बुद्धि का निवेश घर-परिवार और पति-बच्चों के लिए हो। क्योंकि वह जानती है कि वह इन सबका निवेश बाजार में करके भारी मुनाफा कमा सकती है। तो फिर वह क्यों अपनी मन-मस्तिष्क एवं शरीर रूपी पूंजी को पति या परिवार के हवाले करें जिसका एक प्रतिशत लाभांश भी उसे नहीं मिल सकता और अगर वह उन्हीं चीज़ों को यदि बाज़ार के हवाले करती है तो कम से कम उसे अस्सी प्रतिशत लाभांश मिलेगा। इसलिए ही मां उर्मी से कहती है कि-"जीवन शुद्ध व्यापार है। कम से कम निवेश अधिकतम लाभ यही सफलता की कुंजी है।"[1] सफलता के लिए ऐसा मार्ग चुननेवाला व्यक्ति और ऐसे व्यक्तियों से भरे समाज का नष्ट भ्रष्ट हो जाना एक अवश्यंभावी घटना है और यही उर्वशी के साथ भी होती है। अंत में सबके द्वारा उपेक्षित एवं एड्स का शिकार होकर उसे एक लावारिस मौत मरना पडता है। उसकी माँ को भी ऐसी ही मौत नसीब होती है। क्योंकि पैसे की अंधी दौड में वे किसी भी प्रकार के संवेदनात्मक संबन्ध कायम नहीं रख़ पाते। अपने पिता की मृत्यु के समाचार पर भी उर्मी और उसकी माँ की प्रतिक्रिया अपेक्षाकृत बहुत ठंडी थी, और ऐसे मौके पर भी उन्हें ज़ल्दबाजी शूटिंग पर जाने की थी और इतनी संवेदनहीनता का परिचय देता है कि वे एक बार भी वहाँ जाने के लिए राजी नहीं होती। क्योंकि उन्हें डर था कि यदि वे वहाँ जाएंगे तो प्रेसवालें को और लोगों को इस बात का पता चल जाएगा कि उर्वशी जो मिस वर्ल्ड है और प्रसिद्ध फिल्म स्टार है, उसके पिता एक मामूली इंसान है,

---

[1] लता शर्मा -'सही नाप के जूते', पृ.45

और सडी-गली मुहल्ले में रहता है। इसलिए माँ कहती है-"क्या कर रही हो उर्वशी। जरा समझ से काम लो। तुम्हारा वहां जाना क्या प्रेस से चुपा रहेगा। फिर उसी चाल गली मोहल्ले के लोग।"[1]

उर्मी के पिता उसके द्वारा चुने गए इस मार्ग से बिल्कुल खुश नहीं थे। क्योंकि स्त्री देह के सार्वजनिक प्रदर्शन और उपभोक्ता उत्पाद बनाए जाने की व्यवस्था से उन्हें नफरत है। उर्मी का सागररत्न में पाँच करोड के फ्लैट खरीदने के बावजूद भी वह अपना छोटा सा घर, नौकरी और मोहल्ला छोडकर आने के लिए राजी नहीं होते हैं। क्योंकि वह उत्तर औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाओं से मुक्त व्यक्ति है। लेकिन इस बात से उर्मी की माँ को बिल्कुल भी दुःख नहीं होती। क्योंकि वह उत्तर औपनिवेशिक समाज की अमानवीयता, संवेदनहीनता एवं महत्वाकांक्षा से ग्रसित स्त्री है। पति के इस निर्णय पर उसकी तटस्थता इस बात को बुलन्द करती है-"यह कोई नई बात तो नहीं। वो हमेशा से ही ऐसे हैं। अपने आप में खोए हुए। जो है बहुत अच्छा है। किसी से कोई शिकायत नहीं, पर मुझे है। मैं साफ सुथरी जिंदगी जीना चाहती हूँ। ...मैं नहीं चाहती हूँ कि जैसे घर के काम में घिस-घिसकर मेरी दादी, नानी और मां मर गई, मैं भी मर जाउँगी।"[2] माँ इस तरह इसलिए कहती है, क्योंकि वह सिर्फ और सिर्फ अपनी खुशहाल जिंदगी चाहती है। इस बीच यदि दूसरे लोग, चाहे वह अपना पति ही क्यों न हो, किसी भी वातावरण में किसी भी हालत में सडता रहें, उन्हें कोई

---

[1] लता शर्मा -'सही नाप के जूते', पृ.99

[2] उपर्युक्त, पृ.68-69

फरक नहीं पडता। दूसरों के लिए उनके मन में कोई संवेदना नहीं है। परिवार में दूसरों की उपेक्षा करके वह उर्मी के लिए इतना सब कुछ इसलिए करती है क्योंकि वह भली-भांति जानती है कि उर्मी के ऊपर किया हुआ उसकी मेहनत ख़ाली नहीं जाएगी। संबन्धों को भी बाजारतंत्र के नज़रिए से देखनेवाली उत्तर आधुनिक समाज का प्रधिनिधी पात्र है यहाँ उर्मी की माँ। क्योंकि उसे पूरा विश्वास है कि उर्मी जैसी सुंदर लडकी के द्वारा वह बाज़ार से ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमा सकती है। यहाँ माँ बेटी के बीच का संबंध कदापि ममता पर आधारित नहीं है। ख़ुद की आरामतलब और उच्च स्तर की ज़िन्दगी का सपना देखने वाली माँ किस तरह अपनी बेटी के शरीर का इस्तेमाल करती है, पूरा उपन्यास इसी के इर्दगिर्द घूमता है। अपने मन में उगे पाले महत्वाकाँक्षा की नींव माँ उर्मी के मन में भी डाल देती है। इसी लिए उर्मी चाहते हुए भी अपनी उस पुरानी ज़िन्दगी में वापस लौटने केलिए असमर्थ हो जाती है। क्योंकि "यहाँ एक दिन की मेहनत की कीमत लाखों में हैं और वहाँ दो अंकों में... ज्यादा से ज्यादा तीन"[1] और वह उस कीमत को किसी भी हालत में खोना नहीं चाहती है।

अपने शरीर को अंतर्राष्ट्रीय मापदंड के पैमाने पर बदलने की कोशिश के बीच उर्वशी चाल्स रोजेरीयो जो अतंर्राष्ट्रीय ख्याती प्राप्त शरीरिक वैज्ञानिक प्राशिक्षक है उसके साथ देहिक संबंध रखती है। जब वह इस घटना के बारे में माँ से कहती है तो माँ इतना ही जवाब देती है कि-"यह व्यावसायिक जोखिम है,

---

[1] लता शर्मा -'सही नाप के जूते', पृ.70

ऑक्यूपेशनल हज़ाड्। हो जाता है कभी...कभी...भूल जाओ।"[1] अपनी बेटी को सही रास्ते पर ले जाने वाली, उसे नैतिक मूल्यों की शिक्षा देनेवाली माँ यहाँ बेटी को मूल्यहीनता का संदेश देती है। लक्ष्य की प्राप्ति केलिए किसी भी हद तक गिरना या कितना भी घिनौना काम करने केलिए तैयार एक समाज का असली चेहरा यहाँ बेनाकाब होता है।

नवऔपनिवेशिक समाज का मूल्य पूँजी केंद्रीत है। यह समाज अपनी भौतिक उन्नति को ही जीवन का लक्ष्य मानता है। यहाँ माँ भी अपनी बेटी को ऊँचे नैतिक मूल्यों का उपेदश नहीं देती बल्कि यही उपदेश देती है कि किस तरह लडकी अपने देह रूप पूँजी का इस्तेमाल कर रातों रात मालामाल हो सकती है। अर्थ और सत्ता के आगे उसके जीवन का कोई भी लक्ष्य नहीं है। आध्यात्मिक उन्नति को वह अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देती बल्कि आध्यात्मिक पतन की ओर बढने वाले समाज का निर्माण आज हो रहे हैं। उसका सांस्कृतिक स्तर गिरता जा रहा है, नैतिक स्तर गिरता जा रहा है मूल्य गिरते जा रहे हैं अगर उन्नति हो रही है तो सिर्फ अंतहीन महत्वकाँक्षा की, अर्थ के पीछे अंधी दौड़ की, मानवीयता को कुचलने की प्रवृत्ति की, गुलामी सभ्यता के अंधानुकरण की।

निष्कर्ष

वर्तमान नवऔपनिवेशिक दौर ने व्यक्ति को महत्वाकांक्षी बना दिया है। आज के हर व्यक्ति के अंदर एक अजब सी 'काम्पटीशन' का आलम है। यहाँ के व्यक्ति का न कोई उसूल है न किसी के प्रति अपनापन। आज के युवा वर्ग

---

[1] लता शर्मा -'सही नाप के जूते', पृ.71

ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने के चक्कर में है। और इस चक्कर में वे एम. एन. सी ज्वायन करके कंपनियों के टारगट पाने के चक्कर में अपने सारे सुख्र आराम को तिलांजली देते हैं। जिस तरह दौड उपन्यास में 'पवन' करता है या फिर कोई अपनी आत्मा को कुचलकर 'पुरुष वेश्या' बनने के लिए तैयार होता है जैसे 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में नील करता है। अतः अर्थ की प्राप्ति के लिए वर्तमान उत्तर औपनवेशिक समाज कोई भी मार्ग अपना सकता है। यहाँ उनका कोई उसूल नहीं होता। क्षमा शर्मा के उपन्यास की उर्मी, और 'एक ज़मीन अपनी' की नीता भी वर्तमान समाज का प्रतिनिधि पात्र है, जिन्हें देहकेंन्द्रित उपभोक्तावादी सभ्यता के बीच अपने जीवन को नष्ट करना पडता है।

आज व्यापार का क्षेत्र इतना खुल गया है कि युवाओं के लिए आज अवसर की कमी नहीं है। लेकिन एक से दूसरे अवसर की तलाश में, महत्वाकांक्षी युवा वर्ग नगर से महानगरों की ओर निरंतर प्रस्तान करते हैं। विदेशों में रहने का चस्का भी आज के युवा वर्ग को लग गया है। अतः विदेश में जाकर कोई अपना देश या गाँव लौटना नहीं चाहता। आजकल ऐसा सिद्धांत पनप रहा है कि जहाँ पर ज्यादा सुविधाएँ हो वह जगह अपना और सुविधाओं के अभाव में अपना देश भी पराया बन जाता है। अपनी भावुकता को पैरों तले रौदनेवाली नई पीढ़ी को कोई गम नहीं कि वे अपनी जडों से काटकर अलग हो रहे हैं। अब देश में रहकर भी वह विदेशी की तरह जीना पसंद करते हैं। अतः सारे संबन्धों को रदी की टोकरी में फेंकनेवाली युवा पीढ़ी वर्तमान समाज के लिए खतरे की घण्टी है और समाज के सामने एक प्रश्न चिह्न है।

पाँचवां अध्याय

नवउपनिवेशवाद के आतंक से उत्पन्न समस्याएँः समकालीन कथा साहित्य में

नवउपनिवेशवाद की नकारात्मक स्थितियाँ समाज के किसी सीमित क्षेत्र को अपने दायरे में नहीं बांघता बल्कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करता है। यह केवल हमारी सांस्कृतिक क्षेत्र को ही खोखला नहीं करती बल्कि यह हमारे आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, औद्योगिक, व्यावसायिक जीवन को भी प्रभाविक करता है। यह व्यक्ति को भीतरी और बाहरी रूप से खोखला करने के लिए सक्षम है। व्यक्ति की सामूहिकता को समाप्त कर उसे समाज निरपेक्ष बनाता है। समकालीन कथा साहित्यकारों ने नवऔपनिवेशिन के इस व्यापक प्रभाव का चित्रण अपनी रचनाओं में किए है।

5.1 नवऔपनिवेशन से उत्पन्न आर्थिक संकट

उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों ने सारे अल्पविकसित या अविकसित देशों को आर्थिक तंगी का शिकार बनाया है। उपभोक्तावादी सभ्यता ने हमारी अर्थव्यवस्था पर बहुत प्रभाव डाला है। विश्व बैंक का आर्थिक सलाहकार श्री स्टिगलिट्स का वक्तव्य इस बात का पॉल पोलने में सक्षम है कि-"विश्व बैंक के मेमोरंडम ऑफ एसोसिएशन में जो लिखा था, उसके कारण मैं ने वहाँ नौकरी की। मुझे लगा वहाँ अच्छे-अच्छे उद्धेश्य है। किन्तु वहाँ रहकर मैं ने अनुभव किया कि यहाँ तो गरीब देशों का शोषण करने की प्रक्रिया चल रही है। इसलिए मैं ने वह नौकरी छोड दी। स्टिगलिट्स ने चार चरणोंवाली उस प्रक्रिया का वर्णन किया है, जिसके द्वारा विश्व बैंक गरीब देशों का शोषण करता है। निजीकरण (प्राइवेटाइजेशन) से शुरूआत करके गरीब देशों को ऋण देना, ऋण देते समय अपनी शर्तें लगाना, शर्तों के कारण उनको गरीब बनाना, और गरीब

बनाने के बाद उनको गुलाम बनाना।"[1] उसी तरह इंटरनेशनल मोनिटरी फंड के वरिष्ठ अधिकारी डेविसन एलबुग ने लिखा है- "इंटरनेशनल मोनिटरी फंड में रहते हुए मैं ने इतना पाप किया है कि गरीब लोगों के खून से मेरे हाथ सने है और दुनिया की सारी नदियाँ भी मेरे हाथ साफ नहीं कर सकती। विश्व व्यापार संगठन इसलिए स्थापित किया गया कि उसके अंदर सब देश आ जाएं, सब देश आ जाते है तो जो गौरे देश है, वे गैर-गौर देशों पर अपना प्रभाव जमा सकें।"[2]

भारत के आर्थिक शोषण का दूसरा पक्ष भारतीय मध्यवर्ग के बाज़ार के प्रति बढता आकर्षण भी है। ये वही मध्यवर्ग है जो उपयोक्तावादी सभ्यता के आने से पहले अपनी आय को बैकों में डालकर पैसा बचाने में विश्वास करता था। लेकिन बाज़ारीकरण एवं उपभोक्तावादी सभ्यता के आगमन से मध्यवर्ग का वस्तुओं के प्रति आकर्षण बढ गया और वे आय से ज्यादा व्यथ करने लगे। और पैसे को बैंकों में निवेश करने के बजाय बडी रकम में सूद मिलने की लालच के कारण बहुत सारी ऐसी विदेशी या देशी निजी संस्थाओं में पैसा जमा करने लगे। नवऔपनिवेशन से उत्पन्न आर्थिक संकट का यह एक अन्य पहलू है।

समकालीन कहानीकार प्रदीप पंत के द्वारा 2010 में हंस पत्रिका में प्रकाशित कहानी है 'व होंगे कामयाब'। इस कहानी में अमरीकीकरण के कारण भारत में हो रहे भीषण आर्थिक त्रासदियों का चित्रण दो थिख्रमंगो के वार्तालाप के माध्यम से करने का प्रयास किया है कहानीकार ने। इसमें बी. ए.

---

[1] दीपक बेरृका (सं)- लेख्र- दलोपंत ठोंगडी, 'भारतीय सामर्थ्य एवं चुनौतियाँ', पृ.18

[2] उपर्युक्त, पृ.18

पास युवा भिखारी जो भारत का आर्थिक महाशक्ति बनने का सपना वृद्ध बिसारी से बांट रहा था, थोडी देर बाद उसे खुद महसूस होता है कि "परमाणु ऊर्जा, कॉर्परेट कल्चर, भारत की आर्थिक महाशक्ति बनने वगैरह की बात खामख्वाह छेड दी। वह अपने और परमाणु ऊर्जा के बीच, अपने और कॉर्परेट कल्चर के बीच अपने और भारत के आर्थिक महाशक्ति बनने के बीच रिश्ता नहीं जोड पा रहा था।"[1] उसी तरह प्रियंवद का 'परछाईं नाच' उपन्यास में भी उत्तर औपनिवेशिक समाज के खतरनाक तत्वों का प्रतिनिधि पात्र 'बौना' के द्वारा भारत के आर्थिक शोषण का एक भिन्न पहलू चित्रित किया है।

5.2 देशी व्यावसायिक संस्थाओं का पतन

आज जिस वैश्विक व्यापार की संकल्पना हमारे समाज में पनप रही है उसका मूल उद्धेश्य यही है कि शब्दों के भीतर मौजूद सभी तरह के सीमा अवरोध को हटाकर, उन राष्टों के बाज़ारों में पश्चिमी घुसपैठ सुगम बनाना। इस कारण विदेशी वस्तुएं निर्बाध गति से भारत में आयातित होने लगी। परिणामस्वरूप भारत के व्यावसायिक संस्थाएँ एवं लघु उद्योग संकट में पड गए। अतः राष्ट्र के भीतर किसी भी उद्योग का पनपना मुश्किल हो गया। इस कारण राष्ट्र के भीतर बेरोज़गारों की संख्या में भी भारी बढोत्तरी हो गई।

बाज़ार में खडा होने के लिए व्यापारिक संस्थाओं में होनेवाली अनियंत्रित स्पर्धा के कारण कम से कम कीमत पर अधिक गुणवलावाले उत्पादों के निर्माण

---

[1] प्रदीप पंत- 'वे होंगे कामयाब', हंस (पत्रिका) फरवरी 2010, पृ.24

के लिए संस्थाओं के बीच होड होने लगी। और इस होड में वही संस्थाएँ अपनी जडें मज़बूत कर पाएंगे, जिनके पास ज्यादा से ज्यादा तकनीकें होती है। परिणामस्वरूप हर क्षेत्र में सबसे श्रेष्ठ एक-दो संस्थाओं को छोडकर बाकी सभी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस कारण लोगों को मिलनेवाली रोजगार में भी भारी कटौती होने लगी। लेकिन इन एक-दो प्रतिष्ठित संस्थाओं की आय विशाल हो गए, और इससे जुडे लोगों की भी आय ऊँची हो गयी। मगर इस उत्पादन-विपणन के बाहर के क्षेत्र घोर दरिद्रता में टकेल दिए गए। इससे एक दरिद्रि कंकाल समाज का निर्माण हो गया। पूँजी सिर्फ चंद लोगों की शोभा बढानेवाले साधन बन गए तो दूसरी तरफ बहुसंख्यक लोग भूखों मरने लगे।

आज की युवा पीढी भी छोटे-मोटे देशी संस्थाओं के साथ जुडना नहीं चाहता बल्कि अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त एम. एन. सि यों से जुडना चाहते हैं। 'दौड' उपन्यास का पवन जैसा व्यक्ति ऐसी मानसिकता को रखने वाले युवा पीढी का दृष्टांत है।

5.3 वृद्ध जीवन की उपेक्षा

उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप आज परिवार में, समाज में और सभी प्रतिष्ठानों में वृद्धों का कोई मूल्य नहीं रह गया है। अतः वयस्क लोग उत्तर औपनिवेशिक समाज में एक अनिच्छ वस्तु के रूप में परिणत हो रहे हैं। आजकल वृद्धाश्रमों की आश्चर्यचकित बढोत्तरी इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। इसलिए भारत में भी आज वृद्ध लोगों को कष्टहीन मौत देने की अपीलों चल रही है, ताकि बच्चे अपनी माता-पिता की देखभाल से तुरंत

छुटकारा पा सकें। जिस समाज में पैसा और भोग ही जीवन का लयाल बन जाता है, वहाँ वृद्ध जीवन का उपेक्षित होना स्वाभाविक बात है। समकालीन कथाकारों में चित्र मुद्गल का 'गिलिगडु' उपन्यास इसका एक जीवंत दृष्टांत है। उसी तरह 'दौड' उपन्यास में बुजुर्ग इलाके का जिक्र और सोनी साहब की मृत्यु इसी वृद्ध जीवन की उपेक्षा को दर्शाती है। कमल कुमार की 'खोखल' कहानी में पार्टी का मज़ा खराब न करने के लिए बुआ माँ की मृत्यु के समाचार को छुपाकर रखनेवाला दिनेश, राजकुमार गौतम की 'इंटिमेट चैनल' की मात्रा, सूर्यबाला की 'जश्न' चन्द्रकान्ता की 'रात में सागर' कहानी के हर एक पात्र, वृद्ध जीवन को मूल्यहीन समझनेवाले उत्तर औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त लोगों का प्रतिनिधि पात्र है। अतः आज यह सोचने का समय आ गया है कि हम अपनी संस्कृति को भूलकर आयातित संस्कृति को स्वीकार कर अपने ही परिजनों की उपेक्षा करेंगे तो क्या यह भविष्य में हमारे लिए खतरे की घंटी नहीं हो सकती है।

5.4 शैक्षिक दुनिया पर प्रहार

उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों का नकारात्मक प्रभाव वर्तमान शिक्षा जगत पर भी गहराई में पडा है। आज जो उत्तर औपनिवेशिक मानसिका लोगों के भीतर पनप रही है, इसकी अस्सी प्रतिशत जिम्मेदारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली को है। इस शिक्षा प्रणाली में पढे-लिखे भौतिक के मन में भारत के प्रति, भारतीय सभ्यता, संस्कृति के प्रति उपेक्षा भाव का पनपना स्वाभाविक है। अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति की नींव जो औपनिवेशिक समाज ने डाली थी, उन्ही शिक्षा

पद्धति के अनुसरण करनेवाली इस पीढी के पास उच्च आदर्श एवं मूल्यों का अभाव है। केवल भारतीयता की निंदा करना, भारत के सभ्यतागत संपदाओं, उपलब्धियों और दक्षताओं को निकृष्ट एवं तुच्छ मानने का संस्कार ही आज के शिक्षा संस्थाओं से प्राप्त होता है। वर्तमान शिक्षा संप्रदाय की उत्तर औपनिवेशिक प्रभाव को दिखानेवाली कहाती है रामदरश मिश्र की 'मिसफिट'। यह कहानी उन भारतीय बच्चों की है जो पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था में फिट नहीं हो पा रहे हैं। उसी तरह कैलाश बनवासी की 'प्रक्रिया' कहानी भी उत्तर औपनिवेशिक समाज में शैक्षिक दुनिया की विसंगतियों को दर्शाती है।

5.5 धार्मिक क्षेत्र पर हमला

नवऔपनिवेशिक दौर में धार्मिक क्षेत्र भी बाज़ारीकरण के चपेट से मुक्त नहीं है। आज व्यक्ति धर्म को भेजकर पैसा कमाता है। आजकल धर्म का एक अलग रूप उभरकर सामने आ रहे हैं। आधुनिकता के नाम पर वर्तमान समाज का व्यक्ति विश्वासी तो नहीं बन रहे हैं, बल्कि वे इस चक्कर में अंधविश्वासी होते जा रहे हैं। आत्मीय गुरुवों और मनुष्य रूपधारी ईश्वरों पर विश्वास करके वे कपट धार्मिकता के शिकार बन रहे हैं। 'दौड' उपन्यास में पवन जैसे युवा पीढी की स्थिति इसी बात का दृष्टांत है। आज भक्ति को भेजने वाले धार्मिक गुरुओं का बोलबाला है हमारे समाज में। लोगों के विश्वासों का गलत फायदा उठानेवाले इन आत्मीक गुरुओं की पकड बहुत लंबी होती है। बाज़ारीकरण का एक अलग अपरिचित चेहरा हमें यहाँ देखने को मिल जाते हैं। यहाँ आनेवाले भक्त इनके लिए केवल उपभोक्ता है। धर्म को उपभोग्य वस्तु बनानेवाले इन

लोगों के लिए सबसे बडी फायदे की बात यह है कि इस क्षेत्र में कम निवेश पर अधिक लाभ कमाने की संभावनाएँ है। अतः ऐसे लोग अपना विज्ञापन खुद चैनलों में देते हैं। या फिर ऐसे लोगों के खुद का चैनल भी होता है जिसके द्वारा वह अपना प्रचार प्रसार खुद करते है। 'दौड' उपन्यास का पवन इन आत्मीय गुरुओं के चपेट में पडनेवाले युवा पीढी का प्रतिनिधि पात्र है।

5.6 भाषागत समस्याएँ

नवऔपनिवेशिक युग में अंग्रेज़ी एक वैश्विक भाषा के रूप में अपना पैर पसार रही हैं। अंग्रेज़ी की चपेट में पडकर सभी भारतीय भाषाओं की स्थिति आज अत्यंत संकटपूर्ण बन गयी है। आज भारतवासी भी अंग्रेज़ी के प्रयोग पर गर्व करते हैं, और देशी भाषाओं पर शर्माते हैं। आज हमारे बुद्धिजीवियों एवं सभ्य समाज ने अंग्रेज़ी को एक राजमहिषी की तरह स्वागत कर रहे हैं। इस कारण बहुत सारी प्रादेशिक भाषाएँ अपने अपने गमलों में कुम्हलाई जा रही है। आजकल मीडिया एवं विज्ञापनों में जो अंग्रेज़ी मिश्रित भाषा का रूप दिखाई पडता है, वह उत्तर औपनिवेशन के भाषाई प्रभाव का जीता-जागता सबूत है। इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी भाषा अब उसके मौलिक शुद्ध रूप में उपस्थित नहीं है। हिन्दी प्रदेशों में तो विज्ञापनों में तथा मनोरंजन के सभी कार्यक्रमों में न तो परिनिष्ठत हिन्दी और न ही शुद्ध अंग्रेज़ी का प्रयोग देखने को मिलता है, बल्कि वहाँ तो इसका संयुक्त रूप 'हिंग्लीश' को हम देख सकते हैं उसी प्रकार दूसरी प्रादेशिक भाषाओं की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। जैसे केरल में तो 'मंग्लीश' का प्रयोग देखने को मिलता है। इसका परिणाम यह

होता है कि पश्चिमी बाढ ने देशी भाषाओं को तो अपने साथ बहा ले गया, उसके साथ साथ अंग्रेज़ी के रूप को भी विकृत कर डाला। जितेन्द्र भाटिया की 'राजरोग' कहानी, तथा सूर्यबाला की 'सजायाफता' जैसी कहानियों में इस समस्या का जिक्र मिलता है।

5.7 विदेशों के प्रति बढता आकर्षण

आज पाश्चात्य संस्कृति एवं पाश्चात्य समाज ने भारतीयों को इस कदर आकर्षित किया है कि विदेशों में बसना आज के युवा वर्ग का सपना बन गया है। इसलिए नौकरी के नाम पर और ऊँची जीवन शैली को प्राप्त करने के लिए वर्तमान युवा पीढी विदेशों में जाकर बसते हैं और अपने घर, परिवार और देश से दूर रहकर जिंदगी को सफलता का झूठा नकाब पहना रहा है। आज व्यक्ति देश में रहकर भी विदेशियों की तरह जीना चाहते हैं। आज भारत एवं भारतीयता पर शर्मानेवाले एक नई पीढी का जन्म हो रहा है। भारतीय धर्म, भारतीय रीति-रिवाज़, भारतीय रहन-सहन, इस तरह भारतीयता से जुडी हुई हर चीज़ें उन्हें दकियानूसी लगते हैं। अगर उनकी दृष्टि में कुछ श्रेष्ठ है तो सिर्फ पश्चिम और पश्चिम से जुडी हुई हर चीज़ें। अतः भारत में रहकर विदेशों के प्रति पनप रही यह आकर्षण उन्हें नौकरी की तलाश विदेशों में करने के लिए मजबूर कर देते हैं। चन्द्रकान्ता की 'इस दौड में कहानी', 'रात में सागर' अलका चित्रांशी की 'कसक' कहानी इस तथ्य को उजागर करने में सक्षम है।

5.8 सत्ता पर प्रभाव

आज हमारे नेता वर्ग भी उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों के गिरफत में हैं। आज हमारे बडे-बडे नेता, राजनीतिज्ञ विदेशियों के हाथों बिकने के लिए तैयार है। विदेशी पूंजी का हाथ इतना लंबा है कि बहुत सारे अधिकारी वर्ग, नेता गण, मंत्रिगण सभी इसकी पकड में आसानी से आ जाते हैं। सब लोग विदेशी पूँजी के हाथों ख़रीदे जा रहे हैं। विश्व बैंक में नौकरी या फिर विदेशों में पढाई के अवसर के नाम पर ही हमारे नेता बिक जाते हैं। सत्ता पर उत्तर औपनिवेशिक ताकतों के दबाव का चित्रण प्रियंवद के 'परछाईं नाच' उपन्यास में देख़ सकते हैं। किस तरह सत्ता इन ताकतों के हाथों की कठपुतली बन जाती है, यह बख़ूबी ढंग से उपन्यास में दिख़ाया गया है।

5.9 पर्यावरण पर प्रभाव

नवऔपनिवेशन के नकारात्मक पहलुओं का एक मुख्य मुद्दा पर्यावरण के साथ जुडा हुआ है। उपयोक्तावादी समाज का व्यक्ति अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए पर्यावरण का भी दोहन एवं शोषण मनमाने ढंग से करते हैं। आज पर्यावरण की जो संकट स्थिति विद्यमान है, वह इन्हीं स्वार्थांधता का परिणाम है। बाज़ारीकृत उपभोक्तावादी सभ्यता के इस युग में बडे-बडे कंपनियों का निर्माण हो रहा है। इस कारण पर्यावरण पर इन सबका नकारात्मक प्रभाव पडता है। अतः जिसे हम विकसित राष्ट्र कहते हैं वे पर्यावरण को ज्यादा ठेस पहुँचाने में बहुत बडी भूमिका निभाते हैं। जैसे सच्चिदानन्द सिन्हा 'भूमण्डलीकरण की

चुनौतियाँ' में बताते हैं कि- "दुनिया में ताप बढानेवाली गैसों का सबसे अधिक उत्सर्जन 25 प्रतिशत से ज्यादा-अकेला अमरीका करता है और दुनिया के दूसरे देशों में होनेवाले उत्सर्जन में भी अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का ख़ासा हिस्सा है। इसलिए अगर दुनिया के दूसरे देश इन गैसों का उत्सर्जन कम भी कर दें तो भी अमरीका अकेले ही दुनिया को ताप-मृत्यु की ओर ढकेलने के लिए काफी है।"[1] जितेन्द्र भाटिया की कहानी 'सिद्धार्थ का लौटना' एवं 2009 में शीरजा पत्रिका में प्रकाशित प्रवीण शर्मा की कहानी 'वापसी' इसी पर्यावरण की समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है। आज का व्यक्ति आधुनिकता के नाम पर ख़ुद को प्रकृति से काटकर अलग कर देना चाहता है यही आज की प्रमुख समस्या है।

5.10 मीडिया पर प्रभाव

आज मीडिया भी व्यावसायीकरण और बाज़ारवाद के चंगुल में बुरी तरह फँसा हुआ है। आज संसाधन जुटाना, धन कमाना ही मीडिया का मूलभूत सिद्धांत बन गए है। इसलिए आज मीडिया भी निर्थीक, निष्पक्ष न होकर चंद लोगों की हितरक्षा के साधन बन गए हैं। आज मीडिया पर विज्ञापनदाताओं के हस्ताक्षेप भी मनमाने ढंग से होने लगे हैं। "आज वैश्वीकरण के कारण मीडिया में ग्लैमर बढा है, चकाचौंध बढी है, फैशन, सौंदर्य, सेक्स, हिंसा आदि मीडिया

---

[1] सच्चिदानन्द सिन्हा- 'भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ', पृ.146

के अधिक स्थान को घेरते हैं।"[1] अतः आज के जनसंचार माध्यमों में दर्शकों एवं पाठकों में वैचारिक चिंतन पैदा करने की क्षमता नहीं है। आज मीडिया केवल हिंसा सेक्स, अस्लीलता को दिखाने का माध्यम बन गया है। चित्रा मुद्गल का 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास वैश्वीकृत समाज के मीडिया की विभिन्न पक्षों को सटीक तरीके से उजागर करती है। उसी तरह राजकुमार गौतम की 'इंटिमैट चैनल' कहानी में भी इसका चित्रण हुआ है।

निष्कर्ष

नवऔपनिवेशिक समस्याओं का प्रभाव बहुआयामी है। जीवन का एक भी क्षेत्र ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों का प्रभाव न पडा हो। समकालीन कथाकारों ने इसके बहुविधीय पक्षों को अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने की सफल कोशिश की है और अपनी रचनाओं के द्वारा पाठकों को चेताने का भी प्रयास किया है।

---

[1] कुमुद शर्मा- 'भूमण्डलीकरण और मीडिया', पृ.173

आज संपूर्ण दुनिया नवऔपनिवेशिक ताकतों के गिरफत में है। ये ताकतें सारी दुनिया को अंदर और बाहर से कुरेद रही है। समय ऐसा था जब भारत राजनीतिक उपनिवेशन के चंगुल में था। लेकिन आज स्थिति बदल गयी है। आज राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, व्यावसायिक आर्थिक हर स्थिति में हमारा उपनिवेशन हो रहा है। औपनिवेशन की शारीरिक गुलामी से मुक्त होने के लिए हम तडपते थे, तो उत्तर औपनिवेशन में पश्चिमी देशों के गुलाम बनकर उनका पैर चाटने के लिए हम मचलने लगे। मतलब यह है कि नवऔपनिवेशन के पीछे छिपी हुई काली सच्चाई को सब लोग देख्रने के बावजूद थी उसे पहचानने और उसके प्रति आवाज़ उठाने में हम असमर्थ बन रहे हैं।

आज नवऔपनिवेशन के तहत जो बाज़ारीकरण, वैश्वीकरण, भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और उपभोक्तावाद आदि कार्यप्रणालियाँ चल रही हैं, इन्हीं के द्वारा विश्व को एक बाज़ार में और व्यक्ति को मात्र एक उपभोक्ता के रूप में तब्दील करने की साज़िशें चल रही है। इसका घातक परिणाम भारतीय संस्कृति पर भी पड रहा है, जिसके कारण हमेशा सत् की ओर, प्रकाश की ओर, आध्यात्मिकता की ओर चलनेवाली भारतीय संस्कृति आज भौतिकता की ओर अग्रसर हो रही है। आज नवऔपनिवेशिक संस्कृति को ग्रहण करनेवाला हर व्यक्ति तरक्की, सुख-सुविधा एवं भोग-विलास की अंधी दौड में है। इस कारण एक मूल्यहीन अपसंस्कृति हर कहीं पनप रही है।

समकालीन साहित्य आज के जटिल, गहन और बहुआयामी यथार्थ को व्यक्त करने की क्षमता रखता है। वर्तमान समाज की सबसे बडी त्रासदी

नवउपनिवेशन से जन्मी है। अतः समकालीन रचनाकार अपनी रचनाओं के ज़रिए इसकी प्रत्यक्ष और परोक्ष दुष्परिणामों को दिखाकर लोगों को चेताने का प्रयास कर रहे हैं। इस कारण समाज में हर कहीं यौन विद्रूपताएं, अर्थ की लालच एवं भोग की अनियंत्रित लालसा उत्पन्न हो रही है। अतः समकालीन रचनाकार अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए इन सबका बारीक चित्रण अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में किये हैं।

नवउपनिवेशवाद की विभिन्न पहलुएं हैं भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावाद, निजीकरण या प्राइवाटाइज़ेशन, वैश्वीकरण, बाज़ारीकरण आदि। इन सबका एक-दूसरे के साथ निकट और अभिन्न संबन्ध है। अतः इन्हें एक दूसरे से पृथक करके देखा नहीं जा सकता। औपनिवेशिक ज़माने में जिस तरह कॉलनियाँ बनाकर लोगों को गुलाम बनाते हुए पश्चिमी राष्ट्र अपना आधिपत्य जमाता था, उसके ही एक आधुनिक एवं परिमार्जित तत्व के रूप में नवऔपनिवेशन का आगमन हुआ। राष्ट्रों एवं व्यक्तियों को अपने अधीन गुलाम बनाकर रखने के नए-नए माध्यम है उक्त भूमण्डलीकरण, बाज़ारीकरण उपभोक्तावाद आदि तत्व। इन सबके माध्यम से पश्चिमी राष्ट्र लोगों के मन में विकास एवं आधुनिकीकरण की लालसा रूपी बीज बोते हैं। और धीरे धीरे उन व्यक्तियों, समाजों, एवं राष्ट्रों को अपने वश में कर लेते हैं। विकास के लिए पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा प्रशस्त मापदंडों को अपनानेवाले राष्ट्र एवं समाज का आंतरिक विघटन तो सुनिश्चित रूप से हो जाता है। परिणामस्वरूप राष्ट्र के भीतर उपस्थित हर एक ढाँचे में परिवर्तन होने लगती हैं। आर्थिक, सामाजिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक जैसे

समाज के सभी पक्षों को यह प्रभावित करता है। अमरीका जैसे पश्चिमी राष्ट्र अविकसित या अल्पविकसित राष्ट्रों के लिए विकास का 'मॉडल' बन जाता है। अतः इसी मानसिकता ने उदारीकरण की प्रवृत्ति को बढावा दिया है। उदारीकरण से तात्पर्य है कि हम अपनी व्यापार नीतियों को इतनी उदार बना दें कि पश्चिमी राष्ट्रों की वस्तुएँ यहाँ निर्बाध रूप से आयातित हो सकें। भूमण्डलीकरण तथा बाज़ारीकरण जैसे तत्व भी इससे भिन्न नहीं है। भूमण्डलीकरण के तहत 'भू' का मण्डलीकरण हो रहा है तो बाज़ारीकरण में संपूर्ण दुनिया एक बाज़ार के रूप में तब्दील हो रही है।

नवउपनिवेशवाद का एक दूसरा पक्ष यह है कि इसके कारण विदेशों से केवल वहाँ का बाज़ार एवं माल ही आयातित नहीं हो रहा है, बल्कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति भी आयातित हो रही है। पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति का भारतीय जन मानस पर हावी होना भारत में सांस्कृतिक संकट को जन्म देता है। इससे तात्पर्य यह नहीं है कि किसी भी संस्कृति से दूसरी संस्कृतियों को पृथक या अलग रहना होगा, अपने दायरे में ही सीमित रहना होगा। अगर ऐसा होता है तो कोई भी संस्कृति विकास एवं परिवर्तन के अभाव में मृतप्राय हो जाएगी। भारतीय इतिहास साक्षी है कि भारत में शक, हूण, मुगल जैसी जितनी भी विदेशी संस्कृतियाँ आयीं भारत ने उन्हें सही मायनों पर, सही परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया है। लेकिन यहाँ शर्त यह है कि किसी भी संस्कृति को स्वीकारने या त्यागने की कोई सीमारेखा या मानवेड का होना ज़रूरी है। दूसरी संस्कृतियों के उतने ही पक्ष को स्वीकार किया जा सकता है, जितना हमारी संस्कृति में वह

पचता है। हर संस्कृति के अच्छे पक्षों को स्वीकार कर उसके बुरे पक्षों को त्यागना बेहद ज़रूरी है। अतः नव औपनिवेशन के तहत जो पाश्चात्य संस्कृति भारत में आई भारतीयों ने उसे बिना कोई हिचक के पूर्णतः उसका अंधानुकरण करने की कोशिश करने लगे। क्योंकि पश्चिमी संस्कृति के आने से पहले जो पश्चिमी बाज़ार भारत में पांव रखा था, उसके चकाचौंध भरे आकर्षण ने भारतीय जन मानस पर भोगविलास की त्वरा उत्पन्न की थी। अतः पश्चिमी संस्कृति के आगमन के लिए पश्चिमी बाज़ार ने मार्ग प्रशस्त किया। औपनिवेशिक ज़माने में चंद बुद्धिजीवी वर्ग अंग्रेज़ियत को आदर के नज़रिए से देखते थे तो उत्तर औपनिवेशन में एक बहुसंख्यक लोग इसके हिमायती बनने लगे। इस तरह नवऔपनिवेशिक संस्कृति ने भारतीय ज़मीन पर अपना पैर जमा लिया।

विज्ञापन की दुनिया तथा भोगवादी संस्कृति ने आज मानव को अमानवीय बनाया है। आज मानव, पशु से भी बर्बर होते जा रहे हैं। 'इंटिमेट चैनल' की मात्रा, 'खोखल' कहानी का दिनेश, 'कब्र' की रस्तोगी परिवार तथा एक ज़मीन अपनी उपन्यास की नीता इन्हीं, भोगवादी संस्कृति का प्रतिकात्मक पात्र है। आधुनिकीकरण के जुनून एवं पश्चिमीकरण की नकल ने मानव को कहाँ तक हास्यास्पद बनाया है यही उदय प्रकाश की कहानी 'पॉल गोमरा का स्कूटर' का मुख्य विषय है। आज हर कहीं व्याप्त इस औपनिवेशिक संस्कृति के जद्दोजहत ने वर्तमान समाज के मन में भारतीय संस्कृति, भारतीय रहन-सहन, भारतीय जीवन शैली अर्थात संपूर्ण भारतीयता के प्रति ही एक तरह से ऊबाहट पैदा की है।

राजकुमार गौतम की 'कब्र' कहानी की मिस्टर एवं मिसिस रस्तोगी, तथा ज्यादात्तर कहानियों के पात्र इसी मानसिकता से ग्रस्त है।

पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण की प्रवृत्ति आज हर एक व्यक्ति में देख सकते हैं। भारत के संदर्भ में पश्चिमी संस्कृति के आबाध प्रवाह के पीछे मीडिया की भी एक प्रमुख भूमिका है। आज की युवा पीढी विज्ञापनों में या दृश्य माध्यमों में दिखानेवाली संस्कृति से एकाकार हो जाना चाहते हैं। पार्टियों और क्लबों में मौज मस्ती करके चकाचौंध भरे 'फास्ट कल्चर' को अपनाकर छद्म आधुनिकता की होड में वे आगे जाना चाहते हैं। अतः सास्कृतिक दृष्टि से विरोधाभास एवं विसंगतियों के चौराहे पर खडे इस पीढी का चित्रण लता शर्मा का 'सही नाप के जूते' जैसे उपन्यासों में और राजकुमार गौतम की 'इंटिमेट चैनल' जैसी कहानियों में देख सकते हैं।

हम आज अमर्यादित उपभोक्तावाद को प्रोत्साहन दे रहे हैं। पश्चिम के प्रति उत्सुकतापूर्ण मनोवृत्ति की वजह से पश्चिमी अमर्यादित स्वच्छंदतावाद के अनुरूप खुद को ढालने का प्रयास भारतीय उच्च वर्ग एवं मध्य वर्ग की ओर से हो रहे हैं। विनाशकारी सांस्कृतिक प्रकोपों से आज भारतीय संस्कृति पूर्ण रूप से उलझा हुआ है। पश्चिम का अनुकरण करते हुए बच्चे किशोरावस्था में ही परिवार से अलगा अपनी एक अलग दुनिया बसाने लगते हैं। इसलिए परिवार की अवधारणा में भी आज धेरे धीरे परिवर्तन आने लगे हैं। पति-पत्नी की व्यावसायिक व्यस्तताएँ बच्चे की भूमिका को ही आज जीवन से मिटा रही है। बच्चों के लिए समय न निकाल पानेवाले माँ-बाप उनकी मुंह मांगी जरूरतें पूरा

करते हैं। इसका नकारात्मक प्रभाव बच्चों पर इस तरह पडता हैं कि बचपन में ही ज्यादा से ज्यादा वस्तुएं प्राप्त करने की इच्छा तथा बाज़ार के प्रति आकर्षण उनके मन में जडें जमा लेती है। 'दौड' उपन्यास का अंकुर इसका प्रतिनिधित्व करता है। आज के बच्चे चिडियाघर में जाना नहीं मौल में घूमना अधिक पसंद करते हैं। मतलब उपभोक्तावादी संस्कृति किस तरह बच्चों पर आज हावी हो रही है, इसी का पर्दाफाश 'दौड' जैसे उपन्यासों में हुए है।

आज बाज़ार का क्षेत्र इतना खुल गया है कि यहाँ युवाओं के लिए आकर्षक रोजगार का अवसर भी बढ गया है। लेकिन अवसर की तलाश में महत्वाकांक्षी युवा वर्ग नगर से महानगरों, देश से विदेशों की ओर निरंतर प्रस्तान करते रहते हैं। अपनी जडों से कटकर अलग होना और उच्च भौतिक जीवन बिताना ही आज जीवन की सफलता का मापदण्ड बन गया है। अतः उत्तर औपनिवेशिक संस्कारों में पला हुआ युवा पीढी देश में रहकर भी विदेशियों की तरह जीने में गर्व महसूस करता हैं।

उत्तर औपनिवेशिक समाज का ख़ासियत यह है कि यहाँ पर स्थिरता एवं निरंतरता जैसे शब्दों का कोई महत्व नहीं होता है। यहाँ सब कुछ बदलता रहता है। जीवन में कहीं टिकनेवाला व्यक्ति यहाँ लद्धड समझा जाता है। आज परिवर्तन जीवन की अनिवार्य शर्त बन गई है। आगे बढने के गद्दोजहत के बीच आज के पती-पत्नी के पास एक दूसरे से मिलने या दो शब्द कहने का फुर्सत नहीं है। अतः उत्तर आधुनिक समाज का व्यक्ति दाम्पत्य को भी इंटरनेट या सेटेलाइट के द्वारा चलाता है।

आज के युवा वर्ग ज्यादा से ज्यादा पैसा ऐंठने के चक्कर में पब्लिक सेक्टर में काम करना नहीं बल्कि मल्टी नैशनल कंपनियों में काम करना पसंद करते हैं। इससे उन्हें अच्छी खासी तनख्वाह तो मिल जाती है लेकिन अपनी सारी सुख आराम भरी जिंदगी को तिलांजली देना पडता है। इस तरह अर्थ के पीछे के अनियंत्रित दौड ने व्यक्ति को आज तनावग्रस्त बना दिया है।

आज व्यक्ति, एक वस्तु में परिणत हो रहा है। उसका मूल्य केवल उसकी उपयोगिता से आंका जाता है। वर्तमान समाज में वयस्क लोगों की उपेक्षा का यही प्रमुख कारण है। 'Use and throw' वाली पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय समाज पर अपनी जडें मजबूत बना रखी है। पश्चिम से आयातित इस उपयोगितावादी दृष्टि ने भारतीय समाज एवं संस्कृति को कलंकित कर दिया है। यहाँ आज युवा पीढी अपनी वृद्ध माता-पिता को अनुपयोगी कहकर सडकों पर छोड रहे हैं। इस तरह के भोगवादी समाज की अमानवीयता एवं रिश्तों के प्रति ठंडेपन का चित्रण कमल कुमार की खोखल, सूर्यबाला की 'जश्न' आदि कहानियों में देख सकते हैं।

आज अश्लीलता की पराकाष्टा को सभ्यता माननेवाले एक जनसमुदाय का जन्म हो रहा है। यहाँ पर स्त्री का स्वरूप माँ या बहन की नहीं होता बल्कि 'भोग्या' की होता है। जीवन को भोग विलास के उत्तुंग शिखर पर ले जाना इस भोगकेन्द्रित सभ्यता में व्यक्ति का जीवन लक्ष्य बन जाता है। इसमें स्त्रियाँ भी पुरुषों से पीछे नहीं हैं। सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' का मुख्य विषय यही हैं। उपन्यास में नील माथुर जैसे युवा पुरुष का,

पुरुष वेश्या बनने के लिए बाध्य होना अंधेड उम्र की स्त्रीयों की यौन पिपासा को व्यक्त करती है। यहाँ नवऔपनिवेशिक संस्कृति से जन्मे उपभोक्तावादी सभ्यता की एक अलग अपरिचित चेहरे को उपन्यासकार पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

उत्तर औपनिवेशिक समाज का मूल्य पूँजीकेंन्द्रित है। यह समाज अपनी भौतिक उन्नति को ही जीवन का लक्ष्य मानता है। आज हमारे सांस्कृतिक स्तर गिरते जा रहे हैं, नैतिक स्तर गिरता जा रहा है, जीवन मूल्य गिरते जा रहे हैं। अगर उन्नति हो रही है तो सिर्फ अन्तहीन महत्वाकांक्षा की, अर्थ के पीछे अंधी दौड की, मानवीयता को कुचलने की प्रवृत्ति की, गुलामी सभ्यता के अंधानुकरण की। इसका जीत-जागता चित्रण लता शर्मा ने अपने उपन्यास 'सही नाप के जूते' में किया है। कैलाश बनवासी की 'प्रक्रिया' चन्द्रकान्ता की 'रात में सागर' राकेश मिश्र की 'बाकी धुआं रहने दिया', पंखुरी सिन्हा की 'समान्तर रेखाओं का आकर्षण' आदि कहानियाँ भी इसी समस्या को उपागर करने वाली है।

पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति ने भारतीयता एवं भारतीय जनमानस को भीतर ही भीतर झकझोर दिया है। भारतीयता से घृणा करके पाश्चात्य सभ्यता को स्वीकारनेवाले भारतीयों की स्थिति दो नांवों में पैर डालनेवाले व्यक्ति के समान हो जाता है। न तो वह पूरी तरह भारतीयता को छोड पाता है, और न ही पूरी तरह पश्चिमीकरण को अपना पाता है। 'धोबी का गाधा न घर का न घाट

का' जैसे मुहावरे को सार्थक बनानेवाले वर्तमान भारतीय समाज उन नपुंसकों से भिन्न नहीं है जिनकी कहीं मांग नहीं होती। समकालीन कथा साहित्य में इस तरह के पात्रों की कमी नहीं है जो पश्चिमीकरण के उत्तुंग शिखर पर चढकर अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।

संपूर्ण अध्ययन के बाद नवऔपनिवेशन से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट के निम्नलिखित मुद्दे हमारे सामने उजागर हो रहे हैं-

1. पैसे एवं भोग के पीछे लालायित समाज का निर्माण।
2. व्यक्ति का मानवीयता से हटकर अमानवीयता की ओर प्रस्तान।
3. यौन संबन्धों का घृणित एवं धिनौने रूप का जन्म।
4. व्यक्ति का अकेलेपन का शिकार होना।
5. वर्तमान मनुष्य के जीवन में बाज़ार की आपाधापी।
6. पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से खोखला होता समाज।
7. समाज तथा परिवार से कटकर आत्मकेंन्द्रित हो रहे व्यक्ति।
8. व्यक्ति के अंदर कुंठा, कटुता, संत्रास, विद्रूपता, रिक्तता, टूटन आदि का जन्म लेना।
9. व्यक्ति का धन एवं सत्ता के पीछे भटकना।
10. व्यक्ति का मनुष्य के स्तर से गिरकर वस्तु के स्तर पर आ जाना।

अतः भारतीय समाज को नवऔपनिवेशिक ताकतों के प्रति संघर्ष करने की शक्ति जुटानी होगी, जो हमें भीतरी रूप से खोखला बना रही है। इसलिए

उस अतीत की ओर पुनः देखने की ज़रूरत है, जहाँ हमने उपनिवेशन मुक्त होने के लिए आज़ादी की लडाई लडी थी।

आज भारत के विकास एवं आधूनिकीकरण की परिकल्पना पश्चिमी अनुकरण से जन्मी है। अतः इस विकास और आधुनिकीकरण के पश्चिमी ढाँचे को बदलना हमारी बुनियादी जरूरत है। आज हमें भारतीय संस्कृति के महानतम मूल्यों को पहचानने की जरूरत है। इसका मतलब भारत का पूर्ण रूप में अतीत में लौट जाना नहीं है, बल्कि भारत के लिए उपयोगी या अनुपयोगी तत्वों को स्वीकारने या त्यागने के नए मानक हमें बनाने होंगे। अतः हमें वर्तमान में खडे होकर अतीत से प्रेरणा लेकर भविष्य को बनाने की तैयारी करनी होगी। आज भारतीयों के मन में सुप्तावस्था में पडे पुरुषार्थों को जगाकर, सभ्यता रूपी प्रकाश के साथ, नए प्रगतिशील तत्वों का सामंजस्य कर भारतीय संस्कृति को विकास के पथ पर अग्रसर करना होगा।

आधार ग्रन्थ

उपन्यास

1. चित्रा मुद्गल : एक ज़मीन अपनी
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली- 110002
प्रथम संस्करण 1999

2. प्रियंवद : परछाईं नाच
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड,
नई दिल्ली- 110003
प्रथम संस्करण 2000

3. ममता कालिया : दौड
वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्रथम संस्करण 2005

4. लता शर्मा : सही नाप के जूते
भारतीय पुस्तक परिषद्
175-सी, पॉकेट-ए, मयूरविहार फेज़- 2
नई दिल्ली-110091
प्रथम संस्करण 2009

5. सुरेन्द्र वर्मा : दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
प्रथम संस्करण 1998

कहानी संग्रह

1. उदय प्रकाश : पॉल गोमरा का स्कूटर
   वाणी प्रकाशन
   21-ए, दरियागंज,
   नई दिल्ली-110002
   प्रथम संस्करण 2004

2. कमल कुमार : क्रमशः
   भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
   नई दिल्ली
   प्रथम संस्करण 1996

3. कैलाश बनवासी : बाज़ार में रामधन
   भारतीय ज्ञानपीठ
   18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
   लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
   प्रथम संस्करण 2008

4. चन्द्रकान्ता : अब्बू ने कहा था
   भारतीय ज्ञानपीठ
   लोदी रोड,
   नई दिल्ली-110003
   प्रथम संस्करण 2006

5. जितेन्द्र भाटिया : सिद्धार्थ का लौटना
आधार प्रकाशन प्रा. लि.
एस.सी. एफ. 267, सेक्टर 16
पंचकूला- 134113, हरियाणा
प्रथम संस्करण 2000

6. पंखुरी सिन्हा : किस्सा-ए-कोहनूर
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली-110003,
प्रथम संस्करण 2008

7. राकेश मिश्र : बाकी धुआं रहने दिया
भारतीय ज्ञानपीठ
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
प्रथम संस्करण 2008

8. राजकुमार गौतम : कब्र तथा अन्य कहानियाँ
किताबघर प्रकाशन
24, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्रथम संस्करण 2003

9. सूर्यबाला : मानुष गंध
किताबघर प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
प्रथम संस्करण 2010

सहायक ग्रन्थ

1. अजिता के. नायर - 'सत्तरोत्तर हिन्दी कहानियों में बदलने मानवीय संबन्ध', जवाहर पुस्तकालय, सदर बाज़ार, मथुरा, उ.प्र- 281001, प्रथम संस्करण 2001
2. डॉ. वी. के. अब्दुल जलील (सं)- 'समकालीन हिन्दी उपन्यास : समय और संवेदना', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2006
3. अमर्त्य सेन-'भारतीय अर्थतन्त्र इतिहास और संस्कृति', राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गैट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 2005
4. ए. अरविन्दाक्षन - 'साहित्य संस्कृति और भारतीयता', जवाहर पुस्तकालय, सदर बाज़ार, मथुरा, उ. प्र-281001, प्रथम संस्करण 2008
5. कुमार कृष्ण - 'कहानी के नये प्रतिमान', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2005
6. कुमुद शर्मा - 'भूमण्डलीकरण और मीडिया', ग्रंथ अकादमी, 1659, पुराना दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2003
7. कृष्णदत्त पालीवाल - 'उत्तर आधुनिकतावाद की ओर', आर्य प्रकाशन मंडल, गांधीनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007
8. कृष्ण मोहन - 'आधुनिकता और उपनिवेश', वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2006

9. गिरिराज किशोर - 'एक जनभाषा की त्रासदी' राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि, 2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1998

10. गोपालराय - 'हिन्दी कहानी का इतिहास' राजकमल प्रकाशन प्रा. लि, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2008

11. जयन्ती प्रसाद नौटियाल - 'हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँः तात्विक विवेचन', आर्य प्रकाशन मंडल, गांधीनगर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007

12. दीपक बंका (सं) - 'भारतीय सामर्थ्य एवं चुनौतियाँ', प्रतिभा प्रतिष्ठान, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2008

13. डॉ. धर्मवीर भारती - 'मानव मूल्य और साहित्य', भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, तीसरा संस्करण-1999

14. ई. एम. एस नंबूदरीपाद - 'कला साहित्य और संस्कृति', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2002

15. डॉ. नरेन्द्र मोहन - 'समकालीन कहानी की पहचान', प्रवीण प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-30, प्रथम संस्करण 1989

16. निर्मल वर्मा, 'भारत और यूरोप-प्रतिश्रुति के क्षेत्र', राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1991

17. निशि त्यागी, 'निबंध माला', एकेडेमिक (इंडिया) पब्लिशर्स, बी-9 रतनज्योति बिल्डिंग, 18 राजेन्द्र प्लेस, नई दिल्ली-110008

18. डॉ. पुष्पपाल सिंह, 'समकालीन कहानी: युगबोध का संदर्भ', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1986

19. प्रभा खेतान, 'बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2004

20. डॉ. सी. जे. प्रसन्नकुमारी, 'भाषा साहित्य और संस्कृति चिन्तन के कण', जवाहर पुस्तकालय, सदर बाज़ार मथुरा, उ.प्र- 281001, प्रथम संस्करण 2007

21. डॉ. बाबा साहेब काकाटे, 'हिन्दी साहित्य में महानगरीय नारी जीवन', समता प्रकाशन, शान्ति नगर, कानपुर- 209303

22. डॉ. जी. भास्कर मैया, 'जीवन और शिक्षण' जयभारती प्रकाशन, 267 बी, माया प्रेस रोड, इलाहाबाद-211003, प्रथम संस्करण 2009

23. मधुरेश, 'आज की हिन्दी कहानी विचार और प्रतिक्रिया', ग्रन्थ निकेतन, रानी घाट, पटना-6, प्रथम संस्करण 1971

24. ओ. पि. मिश्र, 'आधुनिक हिन्दी निबंध' वोहरा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 36, महात्मागांधी मार्ग, सिविल लाइन्स, इलाहाबाद-211001, प्रथम संस्करण 2002

25. डॉ. एन. मोहनन (सं), 'समकालीन हिन्दी कहानी', शिल्पायन प्रकाशन, 10292, लेन नं-1, वैस्ट गोरख्रपार्क, शाहदरा, नई दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 2007

26. डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास का स्वरूप', अमर प्रकाशन, सदर बाज़ार, मथुरा, उ.प्र, प्रथम संस्करण 2004

27. डॉ. रघुवंश (सं), 'पश्चिमी भौतिक संस्कृति का उत्थान और पतन', लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण 2004

28. डॉ. राधाकृष्णन, 'उपनिषदों का संदेश', राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, संस्करण 2008

29. रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, एम. जी. रोड, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण 1976

30. रोहिताश्व, 'समकालीनता और शाश्वतता', विद्या प्रकाशन, सी-449, गुजैनी, कानपुर-22, प्रथम संस्करण 2006

31. विजय बहादूर सिंह, 'उपन्यास समय और संवेदना', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2007

32. विद्यानिबास मिश्र, 'नदी नारी और संस्कृति', प्रभात प्रकाशन, चावडी बाज़ार, दिल्ली- 6, प्रथम संस्करण 1993

33. विभूति नारायण राय, 'कथा साहित्य के सौ बरस', शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001

34. वेदप्रकाश अमिताभ, 'हिन्दी कहानी का समकालीन परिदृश्य', जवाहर पुस्तकालय, सदर बाज़ार, मथुरा, उ. प्र- 281001, संस्करण 2005

35. डॉ. शंकर दयाल शर्मा, 'हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति', किताबघर, 24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2007

36. शिवकुमार मिश्र, 'दर्शन साहित्य और समाज', वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2000

37. डॉ. शिवकुमार शर्मा, 'हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ', अशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, नई दिल्ली-110006, आठवां संस्करण 2005

38. शिवदत्त ज्ञानी, 'भारतीय संस्कृति', राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1944

39. श्रीकृष्ण शर्मा, 'भारतीय समाज और अपराध', नवचेतन प्रकाशन, जी-51, गली नं-16, उत्तमनगर, दिल्ली-110059, संस्करण 2003

40. एम. षण्मुख्रन (सं), 'समकालीन हिन्दी उपन्यास', हिन्दी विभाग, कोच्चिन विश्वविद्यालय, कोच्चिन- 682022, प्रथम संस्करण 2003

41. सच्चिदानन्द सिन्हा, 'भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2003

42. सत्यप्रकाश मित्तल (सं), 'भारतीय समाज एवं संस्कृति परिवर्तन की चुनौती', विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी- 221001, प्रथम संस्करण 2003

43. सुधीश पचौरी, 'उत्तर आधुनिक मीडिया विमर्श', वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2006

44. सुधीश पचौरी, 'उत्तर यथार्थवाद', वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2004

45. डॉ. सुरेन्द्र सिंह नेगी, 'नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता', आदित्य पब्लिषर्स, पाठक वार्ड, बीना 470113

46. डॉ. सुरेशकुमार जैन, 'उत्तरशती का हिन्दी साहित्य', अन्नपूर्ण प्रकाशन, 127/1100, डबल्यू वन, साकेत नगर, कानपुर -208014, प्रथम संस्करण 2005

47. डॉ. हरदयाल, 'हिन्दी कहानी परंपरा और प्रगति', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2005

48. J.V. Prabakara Rao, 'Globalization Challenges and Opportunities', Kanishka Publishers, New Delhi-110002, First Edition-2005

पत्रिकाएँ

1. आलोचना : अक्तूबर-दिसंबर 2005, अप्रैल-सितंबर 2004, अक्तूबर-दिसंबर 2003, जूलाई-सितंबर 2003, जनवरी-मार्च 2003, अक्तूबर-दिसंबर 2002
2. केरल हिन्दी साहित्य अकादमी शोध पत्रिका: अक्तूबर 2012-जनवरी 2013
3. गगनाञ्चल : अप्रैल-जून 2002
4. दक्षिण भारत : अक्तूबर-नवंबर-दिसंबर 2010, अप्रैल-जून 2011
5. नव निकष : मार्च 2012, अप्रैल 2012, जुलाई-अगस्त 2012, जनवरी 2013, मई 2011, जून 2011, अक्तूबर 2013 अक्तूबर 2012, जून 2012, सितंबर 2012, जनवरी 2012 फरवरी 2013, मार्च 2013 अगस्त 2011
6. मधुमती : जुलाई 2007, अगस्त 2007, अप्रैल-मई 2010, नवंबर 2011 नवंबर 2010, जनवरी 2013 जून 2013, जुलाई 2012 अक्तूबर 2010, मार्च 2010, जून 2012
7. माध्यम : अक्तूबर-दिसंबर 2005
8. राजभाषा भारती : अक्तूबर-दिसंबर 2007
9. विवरण पत्रिका : अक्तूबर 2010
10. समकालीन भारतीय साहित्य : जुलाई-आगस्त 2007

11. समकालीन साहित्य समाचार : दिसंबर 2010, अक्तूबर 2010, फरवरी 2011 अप्रैल 2013, मार्च 2013

12. साक्षात्कार : दिसंबर 2007

13. हंस : जून 2008

14. हिन्दी प्रचार वाणी : अक्तूबर 2010

आलेखों की सूची

1. मेघा. ए. आर

लेख-'सांस्कृतिक संक्रमण के शिकार होते बच्चे:हिन्दी कहानियों में'(पृ.71-74)

पत्रिका- 'मेरीडियन', ISSN 2278-750X

अंक-2, नवंबर-दिसंबर 2013

प्रकाशक- रिसर्च फोरम,

एम. ई.एस. असमाबी कॉलज

पि. वेम्बल्लूर,

कोडुंगल्लूर

केरल-680671

2. मेघा. ए. आर

लेख-'मध्यवर्गीय यथार्थ को उकेरती कहानियाँ: यशपाल की 'परदा' तथा केशवदेव की 'मराच्चीनी' एक तुलनात्मक अध्ययन' (पृ. 26-30)

पत्रिका- दक्षिण भारत

अंक-146, जनवरी-फरवरी-मार्च 2012

प्रकाशक- दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा त्यागरायनगर (पि.ओ)

मद्रास- 600017

3. मेघा. ए. आर

लेख- 'तकषि़ के विज़ात उपन्यास चेम्मीन में रोमांस, कल्पना एवं यथार्थ का समन्वय' (पृ. 42)

पत्रिका- नव निकष, ISSN 0975-0827

अंक-2, फरवरी 2011

प्रकाशक- ज्ञानोदय प्रकाशन,

6-7 जी, मानसरोवर कांप्लेक्स

पी.रोड, कानपुर-208012

4. मेघा. ए. आर

लेख- 'भूमण्डलीकृत समाज में नारी का बदलता तेवर' (पृ. 43-45)

पत्रिका- 'मेरीडियन'

अंक-2, नवंबर 2011

प्रकाशक- रिसर्च फोरम

एम. ई. एस. अस्माबी कॉलज

पि. वेम्बल्लूर,

कोडुंगल्लूर

केरल-680671